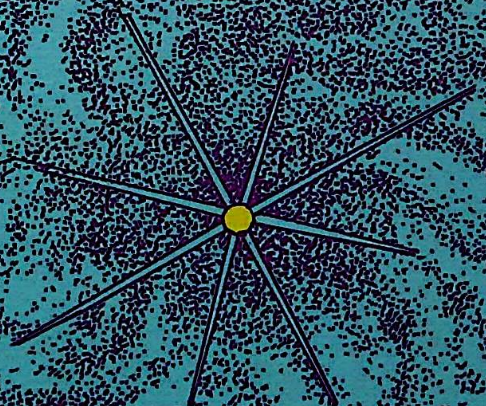
सहज समाधि भली



T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

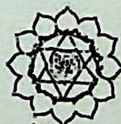
ॐ
जानकराज चौबे

सहज समाधि भली

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

संकलन एवं सम्पादन

ब्रह्मऋता परिव्राजिका



दिव्यालोक प्रकाशन

विराट् नगर, पिन्जौर

T

प्रकाशक
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट् नगर, पिन्जौर
फोन : ०१७३३–६५१७०

संस्करण – तृतीय
सितम्बर, १६६६

आवरण पृष्ठ
जे. मार्टिन

मूल्य २०/–

शब्द संयोजक :
गोयल कम्पयूटर सैन्टर,
नज़दीक बस स्टैन्ड, पिन्जौर

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्ज़,
नवीन शाहदरा, दिल्ली – ३२

33

सम्पर्क सूत्र

1. ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर,
   पो. ओ. पिंजौर (हरियाणा) पिन 134102
   फोन – 01733/65170, 65270, 65205
2. ब्रह्मर्षि योगाश्रम
   28–बी, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032
   फोन – 011-2273660
3. ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
   माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
   फोन – 0161/405565
4. ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन (अंग्रेजी मीडियम)
   बेअन्तपुरा, चण्डीगढ रोड़, लुधियाना
   फोन 0161/666406, 608406
5. श्री गीता रामायण सेवा संघ
   अशोक नगर, मोक्ष मार्ग, उदयपुर (राजस्थान)
   फोन – 0294-414140
6. Metaphysical Science Research Institute
   Sector 19-A, Chandigarh
   Ph. : 0172/775390
7. Brahmrishi Ashram
   278, Heston Road, Heston
   Middlesex TW5 ORT U.K.
   Ph. : 0181-571-3879
8. Brahmrishi Ashram
   717, Loosduinsweg, 2571 AM-Denhaag
   Nederland. Ph. : 070-3620961
9. Brahmrishi Mission of Canada
   Shri-RAM-DHAM Hindu Temple
   525 Bridge Street,
   East Kitchener, Ontario
   CANADA N2K3C5
   Ph. : 519-579-1486

10. Brahmrishi Ashram
1246, North Mantua Street, Kent,
Ohio-44240 U.S.A.
Ph. : 330-678-3793

11. ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय योग आश्रम, पुरी फार्म्स जोड़ियां, रादौर रोड, यमुनानगर – 135001 (हरियाणा)
फोन–01732-89846

12. Brahmrishi Ashram Mission School
Jarar, Devvan, Piplaage
Bhuntar, Kulu (H.P.)
Ph. : 01902-65518, 66043

13. ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
चककिशुनदास, ज्ञानपुर, भधोही, वाराणसी (उ.प्र.)

T

शुभाशीष

यह मानव शरीर प्रभु के मंगलमय विधान का श्रेष्ठतम परिणाम है इसलिए शास्त्र इसे साधन धाम तथा मोक्ष का द्वार बताते हैं। करुणानिधान की जिस करुणा शक्ति के प्रसाद के रूप में जीव को यह साधन धाम मानव शरीर प्राप्त हुआ है, वही करुणामयीचिद् शक्ति आदि गुरु के रूप में अवतरित हो जीवों के उद्धारार्थ इस साधन सामग्री के प्रयोग की विधि का बोध भी प्रदान करती है। अतः साधन तथा उसकी विधि का बोध, दोनों ही प्रभु की अकारण अनुकम्पा का प्रतिफल हैं, उसमें अपने किसी पुरुषार्थ का मान करना उचित नहीं। सत्य तो यह है कि साधक, साधन तथा साध्य के रूप में अवतरित हो वे स्वंय ही विविध प्रकार की क्रीड़ा कर रहे हैं। इस नित्य क्रीड़ा का अवबोधन कराने के लिए ही तो उनके पतित पावन श्रीराम नाम का अवतरण हुआ है।

अमंगलहारी श्री हरि के अभिन्न अंश के रूप में स्वयं को अनुभव करते हुए उनकी कृपा प्रसाद से मिले हुए अभिनय को सजगता से पूर्ण करना और उस परम कौतुकी कृपा निकेत से क्रीड़ा–जन्य रस का आस्वादन करते हुए आत्म–रत, आत्म – तृप्त और आत्म – तुष्ट होना ही जीवन की कृत – कृत्यता है। जीव जब अपना आप विसर्जित कर देता है तब उसके सीमित अहं के माध्यम से प्रभु की इच्छा शक्ति लोकहित सम्पादनार्थ अवतरित हो उसे यन्त्र के समान प्रयुक्त करने लगती है। प्रभु की इच्छा का यन्त्र बन जाने में ही जीव के जीवन की धन्यता है। तुम्हारे द्वारा जो कुछ भी हो रहा है, उसमें प्रभु की इच्छा शक्ति को ही सक्रिय जान प्रमुदित रहो। तुम्हारा जीवन संसार की विविधता तथा विचित्रता से विमोहित जीवों को करुणानिधान भगवान् की महिमा का अवबोधन करा, उनके कल्याण सम्पादन में सहयोगी बने, यही मेरी नित्य की शुभाशीष। प्रभु इच्छानुसार तुम्हारा लोक–हितकारी प्रयत्न सफल तथा सार्थक हो, इसी शुभकामना के साथ –

दिनांक २–१२–१९७६

तुम्हारा हितेच्छु,
विश्वात्मा बावरा

T

प्रकाशकीय

दिव्यालोक प्रकाशन का यह तृतीय पुष्प अपने पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता व आह्लाद का अनुभव हो रहा है। परम पूज्य गुरुदेव के ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर में आयोजित योग साधना शिविर में जिज्ञासु साधकों को दिए गए प्रवचनों का संकलन अतीव प्रिय ब्रह्मऋता जी ने बड़ी लग्न एवं एकाग्रता से किया तथा इस कृपा प्रसाद को जनमानस को सुलभ बनाने के लिए इसे पुस्तक का आकार देकर आचार्यश्री के जन्म दिन पर उन्हें अर्पित किया है। आचार्यश्री के प्रवचनों के संकलन से पुस्तक रूप में आने तक की श्रम साध्य प्रक्रिया से ब्रह्मऋता जी स्वयं ही निकली हैं और इसी तपस्या साधना का परिणाम है "सहज समाधि भली"। आवरण पृष्ठ जिस आत्मतत्त्व की व्याख्या कर रहा है, वह पाठकों के विशेष ध्यान की अपेक्षा रखता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त व छोटे से गोलाकार में बिन्दू रूप में आबध यह आत्म तत्त्व गम्भीर अनुसंधान का विषय है परन्तु ईश्वर प्रणिधान इसमें से निकल जाने का अतीव सुखद और सहज मार्ग है। पूर्ण समर्पण और अहं का विसर्जन किस तरह होगा इसका आनन्द आप भीतरी विषय को पढ़कर कीजिए।

अन्त में मैं अपने पाठकों व सभी जिज्ञासुओं से यह अनुरोध करूँगी कि इस पुस्तक के प्रचार व प्रसार में अपना योगदान देकर अधिक–से–अधिक लोगों को "सहज समाधि भली" के अधिकारी बनाएँ। प्रिय ब्रह्मऋता जी को मैं अपनी अनन्त शुभ कामनायें, प्यार व आशीर्वाद देती हूँ कि प्रभु उन्हें और अधिक सामर्थ्य व क्षमता प्रदान करें। उनके इस सफल प्रयास पर हार्दिक बधाई व प्यार सहित–

-चैतन्य ज्योति परिव्राजिका

T

ॐ

निवेदन

श्रुति का कथन है –

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ।। (कठोपनिषत् २–२–१)

"परम सरल, विशुद्ध, ज्ञान स्वरूप, अजन्मा परमेश्वर का ग्यारह दरवाज़ों वाला पुर है । इसमें रहते हुए जो अनुष्ठान करता है वह कभी शोक नहीं करता, विमुक्त होकर सदैव के लिए जन्म–मरण के चक्र से छूट जाता है।" यह ग्यारह दरवाज़ों वाली उस अजन्मा परमेश्वर की नगरी इस मनुष्य शरीर के अतिरिक्त और कोई अन्य नहीं है। दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र, मुख तथा दो अधोद्वार, नाभि एवं ब्रह्मरन्ध्र, यह कुल मिलाकर ग्यारह दरवाज़े हैं । इस मनुष्य शरीर में स्थित हिरण्यमय कोष में वह सर्व अर्चनीय परमेश्वर रहता है, यह अथर्ववेद की श्रुति का कथन है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि मनुष्य शरीर ही परमेश्वर का उत्तमतम मन्दिर है। इसी मन्दिर में प्रभु सदैव विराजते हैं । उनकी उपासना, आराधना के रूप में अनुष्ठान करने वाला साधक उनके परम ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार कर सदैव के लिए कृत–कृत्य हो जाता है, फिर उसे शोक नहीं करना होता, वह शोक–मोह से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है । वह पुनः संसार–चक्र में नहीं आता और सदैव के लिए जन्म–मृत्यु के प्रवाह को पार कर जाता है । वह समस्त अभावों का अभाव कर स्वयं में सच्चिदानन्द की अनुभूति करते हुए जीवन के प्रयोजन को पूर्ण कर लेता है।

मनुष्य सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है। उसके पास परम सत्य को जानने, पहचानने के सम्पूर्ण साधन उपलब्ध हैं, आवश्यकता है उनके समुचित प्रयोग के यथार्थ बोध की। जब तक उपलब्ध साधन सामग्री के प्रयोग का उचित बोध प्राप्त नहीं होता तब तक वह साधन सामग्री स्वंय में कोई अर्थ नहीं रखती ।

T

श्रुति का कथन है कि जो इस शरीर में अनुष्ठान करता है वह शोक रहित हो विमुक्त हो जाता है। अनुष्ठान का अर्थ है इस मनुष्य शरीर में उपलब्ध हुए इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी साधन तत्त्वों का इस पुरी के स्वामी परमेश्वर की अर्चना में समुचित प्रयोग। यह अर्चना तभी हो सकेगी जब मनुष्य अपने इस शरीर में विराजित उस अनन्त गुण–गण–निधान अजन्मा प्रभु के यथार्थ स्वरूप को जानेगा, समझेगा। इस मानव शरीर रूपी पुर में विश्राम करने के नाते उस परमात्मा को पुरुष शब्द से सम्बोधित किया जाता है। पुरुष के स्वरूप तथा उसकी उपासना की विधि का बोध प्राप्त किये बिना कोई समुचित रूप से अनुष्ठान नहीं कर सकता और अनजाने में जो भी कुछ किया जाए वह अभीष्ट सिद्धि में साधक नहीं होता। इसलिए श्रुति का आदेश है.–

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

उठो ! जागो ! श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर उनके चरणों में बैठकर उस परम तत्त्व को तथा उस तक पहुँचने के मार्ग को जान लो। बिना श्रेष्ठ पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त किये, बिना सत्गुरु की कृपा के उस परम तत्त्व को नहीं जाना जा सकता और न ही उस तक पहुँचने के मार्ग को अथवा अनुष्ठान की विधि को ही जाना जा सकता है क्योंकि श्रुति का कथन है –

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।

(कठ० १/३–१४)

त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन उस तत्त्व बोध के मार्ग को उस्तरे की तीक्ष्ण धार के सदृश दुर्गम बताते हैं। इस जगत में भी बिना किसी मार्गदर्शक के हमारे लिए किसी गन्तव्य स्थान पर पहुँचना सम्भव नहीं होता तो उस परमतत्त्व के बोध की राह पर भला बिना मार्गदर्शक के कैसे चला जा सकता है ? श्रुति प्रतिपादित परमतत्त्व का बोध तथा उसकी अर्चना, उपासना एवं ध्यान की विधि का ज्ञान गुरुदेव की कृपा पर ही अवलम्बित है इसलिए श्रुति का आदेश है–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
यस्यैते कथित ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।
प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ६–२३)

जिसकी परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति है और जिस प्रकार परमेश्वर में भक्ति

जिसकी परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति है और जिस प्रकार परमेश्वर में भक्ति है उसी प्रकार गुरु में भी है उस महात्मा पुरुष के हृदय में ही यह बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। आशय यह कि परमेश्वर तथा गुरु में अभेद दृष्टि रखने वाला महात्मा साधक ही ब्रह्मविद्या के बोध का पात्र बनता है। जीवन के स्वरूप, उसके कारण तथा प्रयोजन का समुचित ज्ञान ही ब्रह्मविद्या के नाम से प्रसिद्ध है । यह ब्रह्म सम्बन्धी विज्ञान किसी भी अन्य उपाय से उपलब्ध नहीं होता केवल गुरुदेव के चरणों की शरण में स्वयं को समर्पित कर उनके कृपा प्रसाद से ही इस परम अमृतमय विज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है । श्रुति का कथन है–

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

(मुण्डकोपनिषत् १–२–१२)

उस परम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रुति के रहस्य को भली–भाँति जानने वाले परंब्रह्म परमात्मा में स्थिर गुरु के पास ही विनम्र पूर्वक जाये। गीता में प्रभु का कथन है कि तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन सेवाभाव युक्त विनम्रता से प्रश्न करने पर उस परम तत्त्व का उपदेश करते हैं जिसको जानकर मनुष्य पुनः मोह–माया–जन्य दुःखद स्थिति को प्राप्त नहीं होता।

जगत्, जीव तथा जगदीश के रूप में प्रकट हुए सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान तथा उसकी उपासना, आराधना से ही मनुष्य कल्याण का भाजन बन पाता है। वह परम ब्रह्म परमात्मा मनुष्य से दूर नहीं है, उसके जीवन के स्रोत रूप में सदैव उससे अभिन्न होकर उसके साथ ही रहता है परन्तु मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान के साधनों का मुख बाह्य जगत की ओर है अतः वह बाहर की वस्तुओं को आसानी से देख पाता है, जान पाता है, अपने अन्तर में कारण रूप से विराजित उस सर्वाधार प्रभु को वह देख नहीं पाता, जान नहीं पाता इसीलिए वह इस संसार चक्र में भटकते हुए विविध प्रकार के अज्ञानजन्य शोक का पात्र बना रहता है। जब कभी वह इस भयानक स्थिति से भयभीत हो अन्तर में व्यथित हो प्रभु को पुकारता है तो करुणानिधान प्रभु स्वंय ही गुरुदेव के रूप में प्रकट हो उसे बाह्य जगत के यथार्थ स्वरूप से अवगत करा अन्तर जगत् में प्रवेश करने की विधि का बोध प्रदान करते हैं और उन करुणामय की करुणा से ही स्वयं में निहित सच्चिदानन्दघन को देखकर, जानकर जीव शोक तथा तद्जन्य

सन्ताप से सदा के लिए विमुक्त हो कृत-कृत्य हो जाता है ।

भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता के रूप में प्रकट हुए परब्रह्म के समग्र रूप का प्रबोधन करने के लिए ही ब्रह्मविद्या का अवतरण होता है। इस प्रकार के अवतरण की घटना शिष्य की जिज्ञासा तथा गुरुदेव के अनुग्रह के माध्यम से ही घटित होती है। यही कारण है कि ब्रह्मविद्या को उपनिषत् विद्या कहा जाता है जिसका अर्थ होता है गुरु के सान्निध्य में स्थित हुए शिष्य के मोहान्धकार को विछिन्न कर उसे दिव्य प्रकाश प्रदान करने वाली विद्या। इस प्रस्तुत पुस्तक में जो कुछ भी जानने व समझने को मिलेगा वह इसी प्रकार से घटित घटना का अंश है।

मई १६७६ में हमारे परम अराध्य गुरुदेव अचानक ही सन्निपात जैसे भयंकर रोग का शिकार हो गये। दो मास तक उनकी लम्बी अस्वस्थता हम सबके लिए चिन्ता तथा शोक का कारण बनी हुई थी। हम सभी यह सोच रहे थे कि ऐसी परिस्थिति में योग साधना शिविर का कार्यक्रम स्थगित कर दिया जाये परन्तु आचार्यश्री का कहना था कि कार्यक्रम तो चलेगा क्योंकि इसकी सूचना दो मास पूर्व से ही लोगों को दी जा चुकी थी। प्रथम जुलाई से पूर्व ही जब लोगों ने एकत्रित होना प्रारम्भ कर दिया तो अस्वंस्थ होते हुए भी जिज्ञासु साधकों की अभिलाषा को देखते हुए १६७६ को गुरु पूर्णिमा से पूर्व एक सप्ताह के लिए आचार्य श्री के अनुग्रह से ब्रह्मर्षि आश्रम के पवित्र, प्रशान्त वातावरण में योग साधना शिविर का आयोजन किया गया जिसमें शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक तथा बौद्धिक मल शोधन के लिए नेति, धोति, आसन, प्राणायाम, ध्यान, चिन्तन आदि क्रियाओं का साधकों को अभ्यास कराया जाता रहा और सांयकालीन प्रार्थना के पश्चात हम सभी आचार्यश्री के चरणों में बैठकर साधन तथा साध्य से सम्बन्धित विविध तत्त्वों पर उनके कृपा प्रसाद से ज्ञानामृत का पान कर स्वयं को तृप्त करते रहे। आचार्य श्री ने इस अवसर पर हम सभी को पातंजल योग सूत्र के साधन पाद में वर्णित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के स्वरूप का रहस्य तथा उसकी महत्ता एवं उपयोगिता समझाई और साथ–साथ अपने साधन काल की कठिन क्रियाओं तथा तद्‌जन्य अनुभूतियों को बताकर साधकों को अतिवाद से बचने की सीख भी देते रहे। शास्त्र ज्ञान उनके अनुभूत ज्ञान से युक्त हो हम सभी के अन्तरतम को आलोकित कर एक अनिर्वचनीय श्रवणानन्द का

T

आस्वादन कराता रहा। कभी-कभी वे तत्त्व विज्ञान का विवेचन करते हुए अपने परम आराध्य गुरुदेव की करुणा का स्मरण कर आत्मविभोर हो जाते थे। वह अवस्था हम सभी के लिए एक अद्‌भुत झाँकी उपस्थित कर देती थी।

योग, बोध तथा परम प्रेम की यह अनुपम त्रिवेणी मेरे परम आराध्य बाबा (आचार्य श्री) के रूप में प्रकट हो मानव-मात्र के लिए परिपूर्ण जीवन जीने की एक दिव्य दिशा प्रदान कर रही है। उनका कथन है कि यह जड़-चेतनात्मक जगत न तो मिथ्या है न भ्रम है। यह सच्चिदानन्द प्रभु की अंशाभिव्यक्ति है। अंश अंशी का ही अभिव्यक्त रूप होता है, उसे मिथ्या वा भ्रम कहना अंशी की ही निन्दा करना है जो सर्वथा अनुचित है। अंश का अवतरण अंशी की महिमा का ही अवबोधक होता है, यही उसका प्रयोजन है। महिमा के द्वारा ही महिमावान को जाना जाता है। अतः यह जगत, जीव, जगदीश सभी कुछ उस परम प्रभु की महिमा के अवबोधक हैं। इनके माध्यम से उस परम तत्त्व को जानकर इस जीवन के प्रयोजन को पूर्ण करना है। अंश को ही पूर्ण मानकर उसमें अनुरक्त होना उचित नहीं है। ब्रह्मविद्या की उपासना कर मनुष्य को उस अंशी प्रभु की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्मविद्या के दिव्य प्रकाश में ही उसे स्वयं के सहित करुणानिधान भगवान् के समग्र रूप का बोध प्राप्त होगा और तभी वह स्वयं से अभिन्न सच्चिदानन्द की अनुभूति करते हुए मोह, शोक, संताप जन्य दुःख से विमुक्त हो कृत-कृत्य हो सकेगा।

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आचार्यश्री परिपूर्ण योग का उपदेश देते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य पंच कोषात्मक प्राणी है। उसके स्वरूप में प्रकृति स्वयं को सम्पूर्ण रूप से प्रकट कर उसे भोग तथा मोक्ष प्रदान करने के लिए तत्पर है। यह मनुष्य के किसी कर्म का फल नहीं है वरन् करुणानिधान प्रभु की करुणा का ही परिणाम है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषों के रूप में प्रभु क़ी अपरा तथा परा प्रकृति का अवतरण है। इनमें शरीर से लेकर बुद्धि तक चार कोषों के रूप में अपरा प्रकृति का अवतरण है तथा पाँचवें आनन्दमय कोष में परा प्रकृति का। योग साधना का प्रयोजन है अपरा प्रकृति से अवतरित हुए सम्पूर्ण जगत रूप साधन सामग्रियों को प्रभु के दिव्य भाव से भावित कर उनका प्रयोग करते हुए प्रभु की अनन्त महिमा का अनुभव कर आह्लादित होना। यही दार्शनिक भाषा में भोग कहा जाता है। सरल

T

शब्दों में अपरा प्रकृति के कार्य-कारण स्वरूप की अनुभूति भोग है। इन सम्पूर्ण भोगों का भोक्ता आनन्दमय कोष के रूप में स्थित जीव है। वही प्रभु की अभिन्नाचिदात्मिका परा प्रकृति है। वह सदैव उनसे अभिन्न है। परा प्रकृति रूपी जीव जब भोगात्मक अनुभूति से विरत हो अपने कारण की तरफ देखता है, कारणोन्मुख होता है तो स्वयं में ही सच्चिदानन्द की अनुभूति कर प्रशान्त हो जाता है, यही मोक्ष का स्वरूप है। जीव जब तक भोगरत रहता है तब तक मोक्षानन्द का आस्वादन नहीं कर पाता। भोग में अंशानन्द की ही अनुभूति होती है पूर्णानन्द की नहीं।

यह सत्य है किन्तु अपरा प्रकृति के कार्यों से तादात्म्य हुआ जीव जब तक उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक उनसे परे स्वयं को नहीं ले जा पाता। इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि में बाह्य स्थूल विषयों के संसर्ग से मलिनता आ गई है इसलिए उनमें स्थित जीव उनके तथा अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं देख पा रहा है। सद्गुरु प्रसाद से प्रकट हुआ परिपूर्ण योग इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के मल का शोधन कर उन्हें निर्मल बनाने में सक्षम है। जो लोग इस परिपूर्ण योग का अनुष्ठान कर इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि के मल का शोधन करते हैं वे ही प्रकृति के सहित अपने प्रभु का यथार्थ बोध प्राप्त कर आप्तकाम पूर्णकाम हो परम रस का आस्वादन कर आनन्दित होते हैं, यही मोक्ष है, जीवन का लक्ष्य है ।

शुद्ध आहार–विहार तथा यौगिक आसन क्रियाओं के द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों को निर्मल बनाया जाता है। प्राणायाम शरीर, इन्द्रियों तथा मन के मल को धो देता है। मन्त्र गुरु प्रदत्त दिव्य ज्ञान का बीज रूप है जिसमें जीव के यथार्थ स्वरूप बोध का सार निहित होता है। आचार्य श्री के कथनानुसार केवल ज्ञान, केवल भक्ति तथा केवल योग एकांगी साधन हैं। यद्यपि इनका अवलम्बन लेने वाले साधक भी अन्त में उस परम तत्त्व को ही प्राप्त करते हैं इसमें सन्देह नहीं है किन्तु एकांगी साधक के जीवन में साधनावस्था में सर्वांगीन रसानुभूति नहीं हो पाती। अतः साधक को चाहिए कि वह न तो अतिवादी बने और न एकांगी साधना का ही आग्रही हो। उसे सम्पूर्ण योग का आश्रय लेकर योग, ज्ञान तथा भक्ति की त्रिवेणी में अवगाहन करते हुए गीता प्रतिपादित प्रभु के बताये हुए दिव्य पथ का अनुसरण करना चाहिए। यही सर्वोतम मार्ग है। क्रिया योग स्वयं

में परिपूर्ण योग का ही संक्षिप्त रूप है। इसमें तप शब्द से योग, स्वाध्याय से ज्ञान तथा ईश्वर प्रणिधान से भक्ति की सीख दी गई है।

इस प्रस्तुत पुस्तक में क्रियायोग पर आचार्य श्री के द्वारा दिये गये प्रवचनों का संकलन है। मैं यह तो नहीं कह सकती कि उन सात दिनों में जो कुछ भी मुझे सुनने को मिला था सब कुछ इसमें मैंने ज्यों का त्यों दे दिया है क्योंकि प्रवचन के समय जो आचार्य श्री ने शब्द प्रयोग किए हैं उन्हीं के संकलन का मैंने प्रयत्न किया है किन्तु उन शब्दों के साथ जो उनके आन्तरिक भाव तथा उस समय की करुणापूर्ण दृष्टि द्वारा अगम्य बोध की वृष्टि होती रही है उनको किसी अक्षर माध्यम से आबद्ध करने की मुझमें क्षमता कहाँ ? फिर भी मैंने अपनी तरफ से पूरी कोशिश की है कि इस ज्ञानामृत का आस्वादन अन्य जिज्ञासु साधक भी करें और इससे नई चेतना प्राप्त कर अपने गन्तव्य की दिशा में अग्रसर हों। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक विशेष कर साधकों के लिए सम्बल तथा जिज्ञासुओं के लिए बोधप्रद सिद्ध होगी। इसमें जो कुछ भी ग्राह्य है यह आचार्य श्री का कृपा प्रसाद है किन्तु इसको संजोकर आप लोगों तक पहुँचाने में यदि कोई व्यतिक्रम हो गया हो तो उसमें मेरी अनभिज्ञता ही कारण है। मैं साहित्य की पण्डिता नहीं हूँ इसलिए इसकी विषय वस्तु को प्रस्तुत करने की कुशलता का दम नहीं भर सकती। यदि किसी भी परमार्थ पथ के पथिक को इससे लाभ हुआ है तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक समझूँगी ।

इस पुस्तक को तैयार करने में शाहदरा (दिल्ली) निवासी भैय्या भगवान शरण जी बंसल की मैं अत्यन्त आभारी हूँ। प्रकाशन में कार्य में आई किसी भी प्रकार की समस्या को दूर करने में उनका अथक श्रम तथा कई बार प्रेस में आधी–आधी रात तक मेरे साथ खड़े होकर कार्य करवाना सामान्य बात नहीं। प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि वह उन्हें स्वास्थ्य, शक्ति और समृद्धि दें जिससे वह इसी उत्साह से कार्य करते हुए प्रभु–कृपा के पात्र बनें। प्रेस के कार्यकर्ताओं को भी मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता के साथ इसकी छपाई के कार्य को पूर्ण किया है ।

दिसम्बर, १९७९ में इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया गया था। उस समय मैं सम्पादन कार्य में पूर्णतया अनभिज्ञ थी और इसी कारण इसमें कई त्रुटियाँ रहीं परन्तु फिर भी पाठकों ने उनकी ओर ध्यान न देकर इसकी

से आभारी हूँ। मैं समझती हूँ कि साहित्य के क्षेत्र में दिव्यालोक प्रकाशन के माध्यम से पू० श्री की जनुपयोगी विचारधारा को जनमानस में प्रचारित और प्रसारित करने में मैं जो भी आपकी सेवा कर सकी हूँ, यह उन्हीं का कृपा प्रसाद मात्र है।

१६८५ में इसका द्वितीय तथा अब इस पुस्तक का तृतीय संस्करण आपकी सेवा में समर्पित कर रही हूँ। अतः करुणानिधान की करुणा का स्मरण करते हुए उनकी लोकहितकारी इच्छा की पूर्ति का यन्त्र बन सदैव उनके आश्रित रहने की अभिलाषा लिए, यह पुस्तक मैं पू० आचार्य श्री के चरणारविन्दों में सादर समर्पित करती हूँ।

ब्रह्मऋता
सितम्बर २८, १६६६ प्रचारिका– ब्रह्मर्षि मिशन
विराट नगर, पिन्जौर

T

अनुक्रमणिका

T

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

योग और साधना

योग शिविर का आयोजन मैंने जिस दृष्टि से किया था ईश्वरीय विधान के अनुसार उसमें बहुत बड़ा व्यवधान आया या ऐसी परिस्थिति जो हम लोगों की दृष्टि में व्यवधान रूप में है लेकिन प्रभु का मंगलमय विधान उसके लिए वही उचित समझा हो, उसमें लम्बी मेरी अस्वस्थता जिसके नाते न तो हम इसकी पूरी व्यवस्था कर सके और न ही प्रचार। फिर भी ईश्वरीय विधान से इतना ही बहुत है कि मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ और आप लोगों को नौ तारीख तक जीवन से सम्बन्धित जो साधन की प्रक्रियायें हैं, उनके विषय में अपना विचार दूँगा।

जीवन के समग्र रूप को दिव्यता में परिवर्तित करने की प्रक्रिया को ही साधन कहते हैं। हमारा जीवन और उस जीवन के माध्यम मूलतः उस परम दिव्य तत्त्व से प्रवाह रूप में अभिव्यक्त होते हुए स्थूलता को प्राप्त कर चुके हैं। स्थूलता में अवरोध तथा विषाद इन दोनों से युक्त होने पर जीवन और उसके माध्यम दोनों ही अदिव्य हो गये हैं। अवरोध माध्यम में है और विषाद जीवन में। इन दोनों ने जीवन को सदोष बना दिया है और सदोषता ही अदिव्यता है। ईश्वरीय विधान से हमें अनादि काल से ही इस अवरोध और विषाद को दूर करके अदिव्य को दिव्यता में परिवर्तित करने की प्रक्रिया सुलभ है और उस सुलभ प्रक्रिया का यथार्थ रूप में प्रयोग करके यदि हम अपने इस अभाव को, इस कमी को, इस दोष को दूर करने के लिए प्रयत्नशील नहीं

होते तो मानव जीवन प्राप्त करने का कोई उपयोग या कोई प्रयोजन हमने पूर्ण किया है, ऐसा हम नहीं कह पायेंगे। मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि हम जीवन और जीवन के माध्यम दोनों को निर्दोष बनायें। जो कुछ निर्दोष है वही दिव्य है। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि अदिव्य और कुछ नहीं सदोष दिव्य ही अदिव्य कहा जाता है।

हमारा वह शरीर जो अन्नमय और प्राणमय कोष से युक्त है, स्थूल शरीर है, दूसरा जो मनोमय और विज्ञानमय कोष से युक्त है, वह सूक्ष्म शरीर है और तीसरा जो आनन्दमय कोष से युक्त है, वह कारण शरीर है। अवरोध की प्रक्रिया कारण, सूक्ष्म और स्थूल, इन तीनों में आ जाती है। अवरोध का अभिप्राय है चेतना के पूर्ण प्रकाश की गति का अभाव। चेतना के पूर्ण प्रकाश की गति जब आनन्दमय कोष से विज्ञानमय कोष तक, विज्ञानमय कोष से मनोमय कोष तक, मनोमय कोष से प्राणमय कोष तक, प्राणमय कोष से अन्नमय कोष तक प्रवाहित होती रहती है तो उस समय जीवन दिव्य बना रहता है और माध्यम भी दिव्य बना रहता है लेकिन जिस समय चेतना की गति का प्रवाह पूर्णरूपेण अन्नमय कोष तक नहीं आता बल्कि बीच में ही अवरुद्ध हो जाता है, उससे माध्यम दूषित और अदिव्य हो जाता है और यही अवरोध है।

विषाद से अभिप्राय जीवन के प्रति अरुचि, उदासीनता, उपेक्षा, ग्लानि और निराशा आदि है। इसका विपरीतार्थक शब्द है प्रसाद जो जीवन में सुस्थिरता, उत्साह, गतिशीलता, सजगता और बुद्धिमता आदि को प्रकट करता है। इसके अभिप्राय को गीता के दूसरे अध्याय के ६५वें श्लोक से अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसमें भगवान् ने कहा है–

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।(गीता २/६५)

प्रसाद के प्राप्त होने पर साधक के सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही भली प्रकार स्थिर हो जाती है। अभिप्राय यह कि प्रसाद बुद्धि को स्थिर करता है और विषाद बुद्धि को विचलित करता है इसलिए साधक को विषाद नहीं प्रसाद को ही जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहिए। जिस प्रकार से प्रसन्नता प्राप्त हो साधक को अपने जीवन में उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए महर्षि पतंजलि योगदर्शन में समझाते हुए कहते हैं–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्त प्रसादनम् । (यो.सू. १/३३)

समाज में चार प्रकार के लोग होते हैं–सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा। महर्षि समझा रहे हैं कि सुखी व्यक्ति के साथ मैत्री का व्यवहार, दुःखी व्यक्ति के प्रति करुणा का व्यवहार, पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्नता व्यक्त करना और पापात्मा के प्रति उपेक्षा की भावना होने पर चित्त में प्रसन्नता स्वतः प्राप्त होती है। चित्त प्रसाद जो है वही चेतन के प्रवाह यानी चेतन की जो यथार्थ स्थिति है उसी की व्यापकता में माध्यम बनता है और जो चित्त का विषाद है वही उसकी व्यापकता में अवरोध उत्पन्न करता है। विषाद और अवरोध का एक दूसरे से बहुत बड़ा सम्बन्ध है।

जीवन तत्त्व का यहाँ अभिप्राय चेतन से नहीं बल्कि चित्तगत स्फुरित चेतना से है जिसको हम जीव कहते हैं। चित्त में प्रतिबिम्बित परम चैतन्य का जो प्रकाश है यानी चित्त में जो परम चैतन्य की अभिव्यक्ति है, वही जीवन तत्त्व है। हमारा चित्त त्रिगुणात्मक है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये तीनों गुण चित्त में निहित हैं।

चित्त में सतोगुण तो प्रकाश प्रदान करने वाला है, रजोगुण गति प्रदान करने वाला है और तमोगुण स्थिति प्रदान करने वाला है। जो स्थित्यात्मक तमोगुण है. उसे लेशाविद्या कहते हैं। तमोगुण यदि अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है और रजोगुण तमोगुण से अभिभूत हो जाता है तो उस समय रजोगुण में जो गति होती है वह सारी की सारी प्रपंचात्मक अर्थात् विमोहात्मक और उलझनपूर्ण होगी। रजोगुण की प्रपंचात्मक गति ही हमारे चित्त में विषाद को जन्म देती है और इसी का नाम अविद्या है। इस अविद्या से अभिभूत रज की गति जो चित्त में है उसी से अस्मिता की उत्पत्ति होती है अर्थात् अहम् की और यही अहम् क्योंकि तम से अभिभूत होता है इसलिए अविद्या के प्रभुत्व में होने के नाते राग को जन्म देता है। राग आगे द्वेष को जन्म देकर अभिनिवेश--को पैदा कर देता है। यह अविद्या की पाँच श्रेणियाँ हो जाती हैं। यदि तम रज पर हावी न हो, रज सतोगुण से सुप्रकाशित हो और तमोगुण केवल अपनी स्थिति में रहे लेशमात्र तो वह धरणा शक्ति बन जाती है अर्थात् ब्रह्मविद्या की धारिका शक्ति बन जाती है क्योंकि तम जो है वह स्थिति गुण वाला है। तम का स्वभाव है स्थिति और स्थिति दो प्रकार की हो सकती है (१) जड़ात्मक और (२) चेतनात्मक। जब तम अभिभूत चित्त हो जाता है तो उस समय जड़ात्मक स्थिति हो जाती है। उस जड़ात्मक स्थिति में जो भी हमारी विचारधारा होती है वह विपरीत होती है, उसको विपर्यय कहते हैं। विपर्यय से अभिप्राय मिथ्या धारणा से है। योगदर्शन समाधिपाद के सूत्र आठ में कहा है—'**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्**' अर्थात् जो वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा मिथ्याज्ञान विपर्यय है। जब साधक साधना में प्रवृत्त होता है तो अपनी धारक शक्ति के प्रभाव को व्यवस्थित करके अर्थात् सीमा में लाकर के रजोगुण को सतोगुण

से अभिभूत करता है अर्थात् नीचे से नहीं ऊपर से उसे प्रभावित करता है तो सतोगुण से अभिभूत चित्त में रजोगुण की गति उसे दिव्यता की ओर ले जाती है। इस बात को हमें ऐसे भी समझना चाहिए कि आनन्दमय और विज्ञानमय कोष सतोगुण से अभिभूत हैं, मनोमय कोष रजोगुण से तथा प्राणमय और अन्नमय कोष तमोगुण से अभिभूत हैं। दूसरे शब्दों में हम इसे यूँ भी कह सकते हैं कि अन्नमय तथा प्राणमय कोष में तमोगुण की, मनोमय कोष में रजोगुण की तथा विज्ञानमय और आनन्दमय कोष में सतोगुण की प्रधानता होती है। जिस समय हमारे में तमोगुण की प्रधानता होती है उस समय मनोमय कोष जो कि रजोगुणात्मक है, जिसमें गति है, वह तमोगुण से युक्त होकर अर्थात् इन्द्रियों और शरीर से युक्त होकर इधर झुक जाता है। जब मन का झुकाव प्राणमय और अन्नमय कोष की ओर हो जाता है तो चेतन के प्रकाश में जीवन और उसके माध्यम से अवरोध उत्पन्न हो जाता है क्योंकि वह सही प्रकाशात्मक शक्ति को नहीं ले पाता। उस समय उसका प्रवाह नीचे की ओर हो जाता है किन्तु वही मन जिस समय विज्ञानमय कोष से युक्त होकर आनन्दमय कोष की ओर जाता है तो उसमें पूर्ण प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। उस अवस्था में हमारा नीचे का जीवन यानी अन्नमय और प्राणमय कोष से सम्बन्धित जीवन भी पूर्णतया व्यवस्थित हो जाता है क्योंकि उसमें प्रकाश ग्रहण करने का सीधा सम्बन्ध हो जाता है।

इससे आप समझ गये होंगे कि जीवन को परिवर्तित करने की प्रक्रिया मनोमय कोष पर अवलम्बित है। मनोमय कोष जो प्राणमय और अन्नमय कोष से युक्त हुआ है इसको उलट करके विज्ञानमय और आनन्दमय कोष की ओर मोड़ना है। साधना का सार यही है और योग का अभिप्राय इतना ही है। भगवान् ने

गीता में कहा है –

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।
(गीता ६/२३)

"दुःख रूप संयोग से वियोग का नाम ही योग है। उस योग को जानना चाहिए; वह योग बिना उकताये हुए चित्त से दृढ़ता के साथ करना चाहिए"। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि दुःख क्या है ? प्रभु कहते हैं –

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।
(गीता ५/२२)

जो इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों के संसर्ग से प्राप्त होने वाले भोग हैं, निश्चय ही वे दुःख की योनि हैं, दुःख के कारण हैं और आदि–अन्त वाले अनित्य हैं। विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करते। इसी बात को भगवान् ने गीता के तीसरे अध्याय में भी कहा है–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।
(गीता ३/३४)

इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के अर्थ में राग–द्वेष व्यवस्थित होता है। उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए क्योंकि वे दोनों ही साधक के महान् शत्रु हैं।

इन बातों को समझ लेने पर मैं समझता हूँ कि योग के नाम पर जो इतनी भ्रान्तियाँ फैली हैं, सारी मिट सकती हैं और सही योग का प्रयोग जीवन को दिव्यता में परिवर्तित करने के लिए किया जा सकता है। इस योग में मूलतः आचार्य पतंजलि ने जो योगदर्शन के आचार्य हैं, चार प्रकार की साधनाओं का अपने दर्शनशास्त्र में विवेचन

किया है। एक बात याद रखें कि योगदर्शन के रचयिता जो आचार्य पतंजलि हैं, वही योगदर्शन के आदि आचार्य नहीं हैं। योगदर्शन तो बहुत पुराना है। महाभारत में ऐसा लिखा हुआ है कि योगदर्शन के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं और सांख्य मार्ग के प्रवर्तक भगवान् कपिल। यह जो गीता में योग साधना का विधान है जिसे छटे अध्याय मे आत्मसंयम योग नाम से कहा है, उपनिषदों में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया का हमें बोध होता है। उपनिषदों से लेकर श्रीमद्भगवद् गीता के काल तक जिस प्रकार की साधनाओं का प्रचलन था, उन साधनाओं को बाद में आचार्य पतंजलि ने व्यवस्थित रूप से तथा दार्शनिक दृष्टि से हमारे सामने रखा या सूत्रबद्ध किया।

मेरी ऐसी मान्यता है कि पतंजलि का आविर्भाव भगवान् कृष्ण के बाद में हुआ है क्योंकि पतंजलि कृत जो महाभाष्य है, उसमें भगवान् कृष्ण और अर्जुन का वर्णन है। जो व्यक्ति उससे पहले होगा उसकी व्याख्या कैसे करेगा ? पातंजल महाभाष्य तो बाद की रचना है। पतंजलि ने महाभाष्य जिस पर लिखा है, उस पाणिनीय सूत्र में भी अर्जुन और वासुदेव की उपासना का वर्णन है। इसका अभिप्राय यह है कि पाणिनी से पूर्व भी भगवान् कृष्ण का जन्म हो चुका था और पाणिनी व्याकरण के ऊपर पतंजलि ने महाभाष्य लिखा है। अतः पतंजलि महाभारत के बाद में हुए हैं–पहले पतंजलि दर्शनकार तथा दूसरे भाष्यकार। कुछ की मान्यता है कि पतंजलि दो नहीं तीन हुए हैं, एक पतंजलि आयुर्वेद के रचयिता भी हैं इसलिए पतंजलि तीन हैं लेकिन मेरी यह राय है कि पतंजलि को दो वा तीन मानने से यह समस्या हल होने की नहीं है क्योंकि महाभारत में जहाँ पर ऋषियों के नाम आये हैं उनमें कहीं पतंजलि का नाम नहीं मिलता। पतंजलि जैसा ऋषि जिसने योगदर्शन का इतना उत्तम ग्रन्थ लिखा हो; महाभारत में उसका नाम तक न आये यह सम्भव नहीं है। यह सबसे बड़ी शंका है और दूसरी शंका यह है कि महाभारत में जब

भी कभी योगदर्शन की बात आई है, वहाँ पर कहीं यह नहीं बताया गया कि इसके रचयिता पतंजलि हैं। योग के साथ पतंजलि का नाम महाभारत में कहीं नहीं आया। जब आया है हिरण्यगर्भ का ही आया है या भगवान् ने अपना नाम बताया है कि मैं ही योग का प्रवर्तक हूँ या हिरण्यगर्भ योग के प्रवर्तक हैं। इसलिए निश्चित होता है कि महाभारत काल में पतंजलि का योगदर्शन नहीं था। पतंजलि ने योग सिद्धान्त को सूत्र रूप में आबद्ध किया है। योग तो बहुत पुरानी विद्या है, वैदिक काल से ही चली आ रही है लेकिन पतंजलि ने अपने योगदर्शन में जिन साधन पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया है, वे चार प्रकार की हैं जिनको संक्षेप में मैं आप लोगों को बता रहा हूँ।

सबसे पहले अभ्यास और वैराग्य जिसे राजयोग कहते हैं। वैसे पतंजलि ने इसका कोई नाम नहीं रखा, इसे केवल योग कहा है। इसको गीता में आत्मसंयम योग कहा है इसलिए मेरी राय में इसका नाम आत्मसंयम योग ही अच्छा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

(गीता ६/३५)

हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु अभ्यास और वैराग्य से होता है और यहीं से पतंजलि ने लेकर **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** इस सूत्र का निर्माण किया है जिसका अर्थ है कि चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। अभ्यास और वैराग्य की प्रक्रिया बहुत पुरानी है। उपनिषदों में उसका विवेचन है, इसलिए मैं यह मानता हूँ कि भगवान् के शब्दों में जो इसका आत्मसंयम योग नाम है, वही अच्छा नाम है।

अभ्यास और वैराग्य अपने में स्वतन्त्र उपासना है, इसमें किसी

मन्त्र की ज़रूरत नहीं और किसी साधन की ज़रूरत नहीं। अभ्यास और वैराग्य ज्ञान मार्ग है इसलिए इसको ज्ञान योग कह सकते हैं। पातंजल योग में अभ्यास और वैराग्य को ज्ञान प्रधान साधन के रूप में लिया है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (यो० सू० १/१३)

बार–बार अपने चेतन स्वरूप में स्थित होने का नाम अभ्यास है। हम इन्द्रियों में नहीं जायेंगे, हम कहीं नहीं जायेंगे, हम अपने स्वरूप में ही रहेंगे। हम द्रष्टा हैं, स्वयं के द्रष्टापन का अनुसन्धान और उसमें स्थिति। बार–बार उसमें स्थित होने का प्रयत्न होने के कारण इसको ध्यान योग भी कह सकते हैं। इसलिए इसे ध्यानयोग कहो, ज्ञानयोग कहो या आत्मसंयम योग कहो, चित्ताकाश में वृति को प्रतिष्ठित किए रखना, अभ्यास है। नीचे जितने कोष हैं उनसे उपरति और लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के सुखमय साधनों से उपरति का नाम ही वैराग्य है। अभ्यास–वैराग्य युक्त साधना योगदर्शन में ज्ञान प्रधान व्यक्ति के लिए वा उत्तम अधिकारी के लिए बताई गई है।

दूसरा प्रणव उपासना है जिसको नादयोग वा शब्दयोग कहा जाए तो अच्छा है। नादयोग की उपनिषदों में बहुत महिमा है। छान्दोग्य उपनिषद् का तो प्रारम्भ ही उद्गीथ उपास्ना से होता है। उद्गीथ उपासना ही ओंकार उपासना है। मुण्डकोपनिषंद् का मन्त्र है–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।

(मुण्डक० २/२/४)

माण्डूक्योपनिषद् तो पूरा ओंकार की उपासना का ही गान करता है यानी उपनिषदों में ओंकार की उपासना की महिमा भरी पड़ी है। बिना किसी सहारे का मन किसी एक जगह स्थित नहीं होता है।

प्रश्न होता है कि मन को स्थित कैसे करें या उसे ऊर्ध्वमुखी कैसे करें ? मन को ऊर्ध्वमुखी करने के लिए प्रणव उपासना की साधना है। आपका मन जो अन्नमय कोष में पहुँच चुका है, उसे वहाँ से उठाकर के प्राणमय कोष से विज्ञानमय कोष में प्रतिष्ठित करना है या आनन्दमय कोष में जिसे चित्ताकाश कहते हैं; वहाँ तक पहुँचाने के लिए प्रणव उपासना है जिसे नादयोग या शब्दयोग भी कहते हैं। वेदों में इसे ओंकार उपासना कहा गया है और उपनिषदों में इसे पराविद्या कहा गया है। नाद का मूल केन्द्र नाभि भी है, मूलाधार भी; कहीं से इसको उठा लो। नाभि से उठायेंगे तो प्राणमय कोष से चलेगा, मूलाधार से उठायेंगे तो अन्नमय कोष से चलेगा। यदि साधक प्राणमय कोष में है, तप करके, साधन करके अन्नमय कोष से ऊपर उठ चुका है तो उसे नाभि से नाद उठाना चाहिए और यदि वह वहाँ से अभी नहीं उठा तो नीचे से अर्थात् मूलाधार से उठाना चाहिए। एक बात याद रखें कि ये राजयोग तथा नादयोग दोनों उपासनायें उत्तम अधिकारी के लिए हैं परन्तु जो अभी अन्नमय और प्राणमय कोष से ही चिपके हुए हैं या लगे हुए हैं, उनके लिए यह प्रक्रिया अपनाना सम्भव नहीं है। हम अपनी स्थिति को तो जान सकते हैं कि हम अन्नमय कोष में हैं या प्राणमय कोष में। यदि मरने का भय है, शरीर के प्रति आसक्ति है तो हम अन्नमय कोष में स्थित हैं परन्तु यदि सुख की चाह है तो प्राणमय कोष में स्थित हैं। इसलिए बताया गया है कि अभ्यास और वैराग्य तथा प्रणव उपासना उत्तम अधिकारी के लिए ही हैं लेकिन थोड़ा सा इनमें भी अन्तर है—एक ज्ञान मार्गी है दूसरा भक्ति मार्गी। योग साधन की जहाँ प्रक्रिया बताई गई है वहाँ इन दोनों को ही बताया गया है परन्तु योग साधना में प्रवृत्त होने के लिए पहले भूमिका तैयार करनी आवश्यक है। भूमिका तैयार करने के लिए दो प्रकार की और साधना बताई गई है—क्रिया योग और अष्टांग योग।

अष्टांग योग की जो साधना है वह एक सामान्य स्तर पर रहने वाले व्यक्ति के लिए है। जो विक्षिप्त चित्त वाला है, अभी साधन में लगा नहीं, लगने की गति नहीं हुई, उसके लिए अष्टांग योग है परन्तु जो इससे ऊपर है, उसके लिए अष्टांग योग नहीं क्रिया योग है। अष्टांग योंग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। जहाँ तक धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों का सम्बन्ध है, वह तो चारों प्रकार के योगों से सम्बन्धित है। धारणा, ध्यान और समाधि तो योग का सार है। अभ्यास और वैराग्य में भी धारणा, ध्यान और समाधि है। योगदर्शन के विभूतिपाद में कहा गया–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(यो॰सू॰ ३/१,२,३)

प्रणव उपासना में भी ईश्वर का नाम है, ईश्वर की धारणा, ईश्वर का ध्यान और ईश्वर के साथ तादात्म्य, यह समाधि है। अष्टांग योग में भी ईश्वर की धारणा, ईश्वर का ध्यान और ईश्वर के साथ अभिन्नता की अनुभूति समाधि है। धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए पाँच नियम जो पूर्व के हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये उसकी तैयारी हैं। यम और नियम तो जैसे कोई कुश्ती लड़ने वाला व्यक्ति शरीर को साध कर उसकी तैयारी करता है, उस प्रकार से हैं। हनुमान जी को लंका जाना था तो सुन्दर पर्वत पर चढ़ गये, वहाँ से उछल कूद की और तब छलाँग मारी। कहने का अभिप्राय यह कि जो उछल–कूद की, यही छलाँग मारने की तैयारी थी। यम–नियम की व्याख्या मैंने अपनी पुस्तक जीवन विज्ञान और योगपथ में की है। 'हाऊ टू बी ए योगी' जो इंग्लिश में है, उसमें तो इसकी वृह्द व्याख्या है। इसमें इतना आपको सूक्ष्म रूप में बता दूँ कि यम हमारे व्यवहार से सम्बन्धित हैं और

नियम व्यक्तिगत आचार से। आचार का अभिप्राय है जैसा हम स्वयं आचरण करते हैं और व्यवहार का अर्थ है जैसा हम दूसरों से बर्तते हैं। आचार नियम हैं और व्यवहार यम हैं।

यम के आगे पाँच अँग हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के भी पाँच अंग हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। यम—नियम तो हमारी साधना की स्थिति को सिद्ध करने वाले हैं। साधक की अवस्था बनाने के लिए, साधना में प्रवेश प्राप्त करने के लिए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ये तीनों अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोष से सम्बन्धित हैं। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोष को शुद्ध करने के लिए ये तीन साधन बताये गये हैं—आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। आसन से हमारा अन्नमय ढाँचा शुद्ध हो जाता है, प्राणायाम से प्राण की शुद्धि होती है तथा प्रत्याहार से मनोमय ढाँचा शुद्ध होता है। प्रत्याहार का अर्थ होता है प्रति आहार। हमारी इन्द्रियों की सारी दौड़ मन के साथ सम्बन्धित है। यदि इन्द्रियों के साथ मन न हो तो इन्द्रियाँ कहीं कुछ नहीं करती, कहीं नहीं जाती। मन ही इनको लेकर के दौड़ रहा है। मनोमय कोष की स्थिति मध्य में है—ऊपर विज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं, नीचे अन्नमय और प्राणमय कोष हैं, मध्य में मनोमय कोष है। इसका निचला भाग जो है वह निचले के साथ लगा है, ऊपर का भाग ऊपर के साथ लगा है और मध्यम है मनोमय कोष। तो प्रत्याहार का अभिप्राय है कि जो मन प्राणमय कोष से लगकर इन्द्रियों को उकसा रहा है, उनको काम में लगा रहा है, प्रयुक्त कर रहा है, उससे मन का मोड़ देना अर्थात् विमुख कर देना। यह जो मन का प्रवाह अन्नमय और प्राणमय कोष से लगा है, इन्द्रियों को उकसाता है या रस लेता है, वहाँ से उसको लौटा देना ही प्रत्याहार है। यह यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार सामान्य अधिकारी के लिए हैं।

उच्च अधिकारी के लिए क्रियायोग है। क्रियायोग के द्वारा व्यक्ति नादयोग या ध्यानयोग का अधिकारी हो जाता है। क्रियायोग में अष्टांग योग का सूक्ष्म रूप समाहित है। क्रियायोग के तीन अंग हैं—तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन को वशीकार की स्थिति में लाने की साधना का नाम तप है। दूसरे शब्दों में तप वह साधना है जिससे शरीर और इन्द्रियों के सहित मन काबू में आ जाये।

स्वाध्याय वह क्रिया है जिससे विज्ञानमय कोष अर्थात् बुद्धि को सजग और स्वस्थ बनाया जाये और सर्वभाव से अपने चित्त को ईश्वर में प्रतिष्ठित कर देने का नाम ईश्वर प्रणिधान है।

क्रियायोग में अष्टांग योग के सारे अंगों का सार रूप में समावेश हो जाता है। जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तप में, धारणा और ध्यान स्वाध्याय में तथा समाधि ईश्वर प्रणिधान में। अच्छे अधिकारी के लिए संक्षेप रूप में क्रियायोग की साधना ही उत्तम बताई गई है। जो स्वभावतः दैवी गुणों से युक्त हैं, सदाचारशील, विनम्र, सरल स्वभाव, शास्त्र तथा गुरु में आस्था रखने वाले, संयमी, निःस्पृही, परमतत्त्व के उत्कट अभिलाषी तथा ईश्वर भक्त हैं, वे ही साधक क्रियायोग की साधना के अधिकारी हैं।

हरि ॐ तत्सत्



T

क्रियायोग की साधना क्यों ?

साधना की प्रक्रिया राजयोग, लययोग, क्रियायोग और अष्टांगयोग, यह चार प्रकार की व्यवस्था आचार्य पतंजलि ने दी जिसमें क्रियायोग के सम्बन्ध में मैं बता रहा हूँ। क्रियायोग के तीन अंग हैं–तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए क्रियायोग की व्यवस्था है और उत्तम श्रेणी वालों के लिए राजयोग और लययोग की व्यवस्था है। हृदय प्रधान लोगों के लिए नादयोग और बुद्धि प्रधान के लिए राजयोग है क्योंकि राजयोग में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया, इसमें ईश्वर का अनुसन्धान है। ये दोनों साधनायें योगदर्शन के समाधिपाद में साधक के भेद से बताई गई हैं। सांख्य और योग का भी यही मत है। मध्यम अधिकारी दो प्रकार के हैं–उनमें राजयोग में प्रवृत्त होने के लिए हठयोग की प्रक्रिया है और उनके लिए बहिरंग और अन्तरंग दो प्रकार के साधन बताये गये हैं। अन्तरंग साधन–धारणा, ध्यान और समाधि हैं और बहिरंग–यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। ये बहिरंग साधन उनके लिए हैं जो अभी अन्तरंग साधन करने में सक्षम नहीं हैं। लययोग के जो मध्यम अधिकारी हैं उनके लिए तीन अंग हैं–तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। राजयोगियों के लिए भी अष्टांगयोग के नियम में ईश्वर प्रणिधान की व्यवस्था की गई है। चित्तशुद्धि के लिए क्रियायोग के जो ये तीन अंग हैं, मैं इन पर इसलिए ज़ोर दे रहा हूँ क्योंकि प्रकारान्तर से इनमें अष्टांग योग के सभी साधन आ जाते हैं। शब्दयोग या लययोग का सहायक है क्रियायोग। क्रियायोग में बहिरंग

और अन्तरंग का भेद नहीं। इसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये तीन ही साधन बताये हैं। यह मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए हैं। जैसाकि पूर्व में कहा गया है कि अष्टांग योग के जो पाँच साधन हैं, वे पाँचों यहाँ तप शब्द में निहित हैं। शरीर, इन्द्रियाँ और मन का शोधन करने के लिए जो भी क्रियाक्लाप अपनाया जाता है, उसकी संज्ञा तप है। तप के फल की व्याख्या योगदर्शन के साधनपाद में की गई है –

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।(यो॰सू॰ २/४३)

तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है तथा अशुद्धि का नाश होता है। आसन तप है वह शरीर की शुद्धि करता है, प्राणायाम भी तप है वह इन्द्रियों का शोधन करता है और प्रत्याहार भी तप है वह मन का अवरोधन करके उसे इष्ट में लगाता है। ये सब तप में आ जाते हैं। तप शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है।

तप के बाद स्वाध्याय है। स्वाध्याय में तीन बातें आती हैं- सद्ग्रन्थों का अध्ययन, आत्म–निरीक्षण, आत्म–अनुसन्धान वा स्व का अध्ययन और मन्त्र जाप। जब तक इन तीनों के द्वारा स्व की स्थिति का यथार्थ बोध नहीं होता तब तक कोई भी व्यक्ति स्वयं को अपने कारण में पूर्ण समर्पित नहीं करेगा इसलिए जो ईश्वर प्रणिधान है वह परमात्मा में पूर्ण समर्पण है। योगदर्शन में कहा है –

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । (यो॰सू॰ २/४५)

अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है। ये तीनों साधन–तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग में सूक्ष्म शब्दों में कहे गये हैं, इन्हीं को विस्तार से अष्टांगयोग में दिया गया।

प्रश्न होता है कि क्रियायोग की साधना क्यों की जाए ? पतंजलि कहते हैं उससे दोहरा लाभ होता है। पहला तो समाधि भावना की सिद्धि होती है और दूसरा क्लेशों को तनु किया जा सकता है। तनु माने निर्बल या कमज़ोर। पहले क्लेशों को कमज़ोर किया जाए फिर

नष्ट किया जाए। एकाएक उनसे लड़ना मुश्किल है क्योंकि वे बड़े मधुर हैं। क्लेश के पाँच रूप हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इनको सांख्य की भाषा में तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अंधतामिस्त्र कहते हैं। आगे सांख्य में इसकी और भी विवेचना की गई है। तम का परिवार आगे चलकर बासठ भेद वाला हो जाता है। उसमें तम के आठ भेद हैं। गीता के सातवें अध्याय में इसकी व्याख्या की गई है–

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।

(गीता ७/४)

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, अहं और बुद्धि, ये आठ भेद हैं। आठ ही भेद मोह के हैं–अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईषत्व और वैषित्व। दस भेद महामोह के हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पाँचों को दो भागों में विभक्त किया जाता है–दिव्य और अदिव्य अर्थात् पाँच अदिव्य लौकिक और पाँच दिव्य अलौकिक। योगी जब साधन करता है तो उसे दिव्य रस का स्वाद आने लगता है, दिव्य गन्ध की अनुभूति होने लगती है, दिव्य रूप के दर्शन होने लगते हैं, दिव्य स्पर्श की अनुभूति होने लगती है और दिव्य शब्द सुनाई देने लगता है। इस प्रकार महामोह के दस भेद हुए, पाँच लौकिक और पाँच अलौकिक। तामिस्त्र अठारहाँ प्रकार के हैं, आठ प्रकार की सिद्धियाँ जो ऊपर बताई गई हैं और दस प्रकार के भोग। भोग का अर्थ है स्वादात्मक और रसात्मक अनुभूति। मनुष्य के लिए ये अठारहाँ प्रकार के जो सुख के साधन हैं, इनमें स्तर होता है कर्म तथा साधन के भेद से। इससे उसकी स्थिति यानी फल में भेद होता है। जैसे हमारे को अणिमा सिद्धि प्राप्त है तो दूसरे को हमारे से अधिक अणिमा सिद्धि प्राप्त है क्योंकि हमारे से जिसकी साधना अधिक है उसे अधिक अणिमा प्राप्त होगी। यही है स्तर।

हमारे से अधिक ये अठारहाँ प्रकार के सुख के साधन जिसके पास हैं, उसके प्रति हमारे में जो ईर्ष्या, स्पर्धा, द्वेष और डाह है, वही तामिस्त्र कहा जाता है। इन अठारहाँ प्रकार के सुख के साधनों के छिन्न जाने का, नाश हो जाने का, हमारे से दूर हो जाने का और इनके वियोग का जो भय हमारे अन्दर विद्यमान है, वह है अन्धतामिस्त्र। योग की भाषा में अन्धतामिस्त्र को अभिनिवेश रूपी क्लेश कहते हैं, तामिस्त्र को द्वेष क्लेश कहते हैं, महामोह को राग क्लेश, मोह को अस्मिता क्लेश तथा तम को अविद्या क्लेश कहते हैं। अस्मिता माने 'मैं पना' अर्थात् मैं भी कुछ हूँ। यह 'हूँ पना' जो है वह अस्मिता है, तम अविद्या है। ये पाँच क्लेश हैं। इन्हीं को श्रीरामचरितमानस में मानस रोग कहा है–

> **एहि बिधि सकल जीव जग रोगी ।**
> **सोक हरष भय प्रीति बियोगी ।।**

इन क्लेशों की जड़ जानते हो क्या है?

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।

(यो॰सू॰ २/४)

इन क्लेशों की जड़ अविद्या है मोह नहीं। अविद्या का पुत्र है मोह। अविद्या जननी है। ये क्लेश चार अवस्था में होते हैं– १. प्रसुप्त २. तनु ३. विच्छिन्न अर्थात् सोए हुए, निर्बल, दबे हुए और उदार अर्थात् प्रभावी या प्रबल। जैसे छोटे बच्चे में सारे क्लेश छिपे हुए हैं, मोह भी है, महामोह भी, तामिस्त्र भी और अन्धतामिस्त्र भी। उसमें काम, क्रोध, लोभ सारे दुर्गुण निहित हैं लेकिन वे सब छिपे हुए हैं, सब प्रसुप्त हैं लेकिन युवा अवस्था होने पर वे प्रसुप्त से तनु हो जाते हैं और जैसे–जैसे वह बड़ा होता है तो विच्छिन्न अवस्था में आ जाते हैं और जब प्रौढ़ होता है तो उदार हो जाते हैं। तनु अवस्था दो प्रकार की होती है। एक तो निर्बल जो प्रारम्भिक अवस्था में है,

नैचुरल है, प्रबलता को प्राप्त नहीं हो पाई और दूसरा जो रगड़कर निर्बल की गई है अर्थात् जो साधन द्वारा निर्बल की गई है। विच्छिन्न उसे कहते हैं जैसे एक क्लेश प्रबल होता है तो दूसरा क्लेश उसके अन्दर दबा रहता है। जैसे राग जब प्रबल हो जाएगा तो द्वेष नहीं है, ऐसी बात नहीं कह सकते, भय नहीं है, अहं नहीं है, अविद्या नहीं है, ऐसा भी तो नहीं कह सकते लेकिन राग के प्रबल हो जाने पर ये चारों दब जाते हैं, उस समय दिखाई नहीं देते। जब द्वेष प्रबल हुआ तो उसमें प्रेम नहीं है ऐसा तो नहीं कह सकते। शेष सब रहते हैं लेकिन एक प्रबल होता है। जो दबे रहते हैं उनकी संज्ञा विच्छिन्न है और जो क्लेश उस समय हावी है वह उदार है। मैं पूर्व में ही बता रहा था कि क्रियायोग की साधना का प्रयोजन है –

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । (यो॰सू॰ २/२)

समाधि का भावना या समाधि की प्राप्ति तथा क्लेशों को तनु अर्थात् निर्बल करना।

यहाँ क्लेशों को निर्बल करने के लिए क्यों कहा गया, नाश क्यों नहीं किया गया ? तुलसीदास जी कहते हैं –

जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।।

उन्होंने तनु के अर्थ में छीजे शब्द प्रयोग किया है। जान लेने से ये पापी छीज तो जाते हैं लेकिन नाश को प्राप्त नहीं होते। ये जीवों को परिताप, दुःख तथा पीड़ा देने वाले हैं। यह जान लेने से नाश नहीं होते छीज जाते हैं। तो ये नाश कैसे होते हैं? तुलसीदास जी ने वहाँ यह बात कही–

राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौ एहि भान्ति बनै संजोगा।।

अर्थात् भगवान् की कृपा से ही ये रोग नाश होते हैं यदि ऐसा संयोग बन जाए। कैसा संयोग बने? **सदगुरु बैद बचन बिस्वासा** अर्थात् यदि सद्गुरु रूपी वैद्य मिल जाए तो इन दोषों को, रोगों को नाश करने का उपाय प्रभु कृपा से हो सकता है। है यह बहुत मुश्किल

बात। नाश का अभिप्राय होता है कार्य का अपने कारण में लय हो जाना या लोप हो जाना। **'नश अदर्शने लोपाः'** यह व्याकरण का सूत्र इसमें लगा है। सांख्य के अनुसार–**'नाशो कारण लयः'** अर्थात् कार्य का कारण में लय हो जाना ही नाश है। क्लेशों को तनु करने के लिए क्रियायोग है। नाश तो ईश्वर प्रणिधान के बाद ही होता है। ईश्वर कृपा हो जाए, ईश्वर प्रणिधान हो जाए तो नाश हो जाता है लेकिन योगदर्शन में क्लशों को नाश करने के लिए निर्बीज समाधि को ही स्वीकार किया गया है। क्लेश नाश नहीं होते और निर्बीज समाधि का साधन वही है–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (यो॰सू॰ १/१२)

परन्तु तुलसी के मत से–

राम कृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भान्ति बनै संजोगा।।
सद्गुरु बेद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।।

अर्थात् सद्गुरु रूपी वैद्य मिल जाए और उसके वचनों पर विश्वास हो जाए तब बात बनेगी। सद्गुरु वैद्य तो मिल गया परन्तु उसके वचनों में विश्वास ही नहीं तो फिर एक जन्म नहीं दस जन्म बैठे रहो। कबीरदासजी ने लिखा है–

गुरु से लीन्हे मन्त्र और नहीं कीन्हे सत्संग ।
कह कबीर कोरी रही कैसे लागै रंग ।।

वही बात तुलसीदासजी कह रहे हैं–

मूरख हृदय न चेत जौ गुरु मिलही बिरंची सिव।

अर्थात् यदि ब्रह्मा और शंकर दोनों भी गुरु बनकर आ जायें तो भी तुम्हारा सुधार नहीं कर सकते इसलिए **'सद्गुरु बेद बचन बिस्वासा'** का नाम ही श्रद्धा है। गुरु और शास्त्र के शब्दों में प्रत्यक्षवत् विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। एक शर्त है कि सद्गुरु के पास जाकर किसी भी प्रकार के संसारिक पदार्थों की आशा न रखो। इस संसार के पद–पदार्थ, वैभव जो कुछ भी हैं, उनके पास जाकर कुछ न चाहो।

तुलसीदासजी ने लिखा है–

राम-नाम काम-तरु जोइ-जोइ माँगिहै ।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै ।।

वह तो कल्प वृक्ष है जो भी उससे माँगोगे वही मिलेगा लेकिन कहीं उस व्यक्ति की तरह नहीं माँग लेना। एक कहानी याद आई।

एक व्यक्ति ने देवता की आराधना की, देवता प्रकट हुए। उसने कहा, वर माँगो। उसने सोचा चीज़ें तो बहुत माँगनी हैं इसलिए क्या–क्या माँगूगा। उसने सोचा ऐसी चीज़ माँगू जिसके नीचे बैठकर सब कुछ माँग सकूँ। उसने कहा, प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे कल्पवृक्ष दे दो। प्रभु ने कहा 'एवम् अस्तु'! तुम्हें कल्पवृक्ष मिल जाएगा। वह खुश होकर वहाँ से चला कि मुझे तो कल्पवृक्ष मिलेगा। कुछ दूर गया, उसे गर्मी लगी तो उसने सोचा कोई छायादार वृक्ष होता तो वह बैठकर विश्राम कर लेता। इतने में दूर ही वृक्ष दिखाई दिया, बहुत सुन्दर वृक्ष है। वह सोचने लगा यदि यहाँ पर चारपाई मिल जाती तो कितना अच्छा होता! इतने में देखा दो आदमी चारपाई लेकर आ रहे हैं। उसने सोचा कोई दो आदमी होते और मेरे पाँव दबाते। इतने में दो अप्सरायें आ गईं और उसके पाँव दबाने लगी और दो पंखा करने लगी। भूख लगी तो सोचा कोई खिलाने वाला आ जाता तो देखा दो खिलाने वाली भी आ गईं। अब जब देखा कि दो खिला रही हैं, दो पंखा कर रही हैं तो उसको होश आया कि न मालूम ये स्त्रियाँ कौन हैं? ऐसा न हो कि जिसकी ये हैं, वह आकर उसे डंडे मारने लगे। इतना सोचते ही डंडा मारने वाले पहुँच गये। जब डन्डे पड़ने लगे तो चिल्लाता हुआ भागा। जब पेड़ से दूर चला गया तो देखा न वहाँ पेड़ था और न कुछ और ही। अब सोचने लगा कि यह क्या हुआ। इतने में आकाशवाणी हुई कि भक्त जो तूने कल्पवृक्ष माँगा था, वह तुम्हें मिल गया। सारी तपस्या वहीं मिट्टी में मिल गई इसलिए तुलसीदास जी लिखते हैं

कि–

राम-नाम कामतरु जोइ-जोइ माँगिहै ।

तुलसीदास जो तू माँगेगा वही मिल जाएगा लेकिन तुम्हारे माँगने की वृत्ति क्या है? तुलसीदास जी ने लिखा है–

नाम गरीब निवाज को देत राज जन जानि ।

गरीब निवाज का जो राम नाम है वह अपना जन जानकर के साधक को अपना सारा वैभव वा विश्व का वैभव देना चाहता है लेकिन–

तुलसी मन परिहरत नहीं घुर बिनिया की बान ।

मन को जो कूड़े पर से बीन–बीनकर खाने की आदत पड़ी है, उसको चाहे राजगद्दी पर बिठाओ, वह जाती नहीं। इसलिए तुलसी कहते हैं कि मन को विषय से जो रस लेने की आदत है, वह जाती नहीं। भगवान् तो चाहते हैं तुम्हें सिंहासन पर बिठाना पर तुम नहीं चाहते तो फिर वहीं बैठे रहो, भगवान् क्या करेंगे इसमें।

भविष्य पुराण में एक कथा आती है। एक ब्राह्मण परिवार में तीन प्राणी थे। तीनों इतने दरिद्र थे कि कूड़े पर दाने बीन कर खाते थे। एक बार की बात कि नारद जी उस रास्ते से जा रहे थे। ब्राह्मण परिवार ने देखा और पूछा प्रभो! आप कहाँ जा रहे हैं? नारदजी ने कहा, भगवान् के पास जा रहा हूँ। ब्राह्मण परिवार ने हाथ जोड़कर नारद जी से कहा कि आप भगवान् से पूछें कि हमारी यह दशा कब समाप्त होगी? नारद जी को दया आई, उन्होंने प्रभु के पास आकर पूछा कि उस ब्राह्मण परिवार की यह दशा कब तक रहेगी? भगवान् ने मुस्कराते हुए कहा, सात जन्म तक। नारदजी सुनकर आश्चर्यचकित हुए और कहा मैं तो उस रास्ते से अब जाऊँगा नहीं क्योंकि जब वे पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा। नारदजी ने कहा, प्रभु! जो आपके दरबार में प्रार्थना करे तो भी वह सात जन्म तक दरिद्रता को भोगेगा, यह तो आपका न्याय नहीं। प्रभु ने कहा, नारद! अगर तुम्हें दया आ रही है तो कोई बात नहीं, मैं तुम्हें वरदान देता हूँ कि जो तुम कहोगे

वह हो जायेगा। नारदजी प्रसन्न होकर वापिस लौटे।

सबसे पहले ब्राह्मण की स्त्री मिली। उससे नारदजी ने कहा वरदान माँगो। स्त्री ने पूछा जो मैं माँगूगी वही मिल जायेगा। नारदजी ने कहा, हाँ वही मिलेगा। कहा, बाबा! मुझ पर कृपा करो मैं सोलह वर्ष की परम सुन्दरी हो जाऊँ। नारदजी का माथा ठनका परन्तु फिर भी कहा, 'एवम् अस्तु'। वह कन्या होकर इधर–उधर घूमने लगी। परम सुन्दरी तो थी ही, कुछ आदमी आये उसे उठा कर ले गये। नारदजी आगे बढ़े तो बेटा मिला। नारदजी ने कहा, वत्स वर माँगो! बेटे ने भी पूछा, आप वही दे दोगे जो मैं माँगूगा। नारदजी ने कहा, हाँ, तुम माँगो जो माँगना चाहते हो। बेटे ने पूछा, मेरी माँ ने क्या माँगा है? नारदजी बोले कि उसने तो यह वर माँगा है कि सोलह वर्ष की सुन्दर कन्या हो जाऊँ। बच्चे ने पूछा तो क्या हुआ? नारदजी ने कहा वह कन्या हो गई। कहा, मेरी माँ सोलह वर्ष की सुन्दरी हो गई, मेरी रोटी कौन पकायेगा, मेरा काम कौन करेगा? बच्चे ने पूछा मेरी माँ का होगा क्या? उन्होंने कहा, होना क्या है, उसको कोई पकड़कर ले जायेगा। तो बच्चे ने कहा, मेरे को वरदान दो कि मेरी माँ शूकरी हो जाए। नारदजी ने कहा, 'एवम् अस्तु'। नारदजी आगे गये तो ब्राह्मण बैठा था। नारदजी को देखा तो दौड़कर बाबा के चरणों में गिर गया कि बाबा प्रभु ने मेरे लिए क्या कहा? नारदजी ने कहा प्रभु ने तो जो कहा सो कहा अब तुम जो वरदान माँगना चाहो माँग लो। उसने पूछा, क्या मेरे स्त्री बच्चे मिले थे आपसे? नारदजी ने कहा, हाँ मिले थे। तो उन्होंने क्या माँगा? उन्होंने कहा उनकी तो बुद्धि भ्रष्ट थी, तुम्हारी स्त्री ने माँगा कि मैं सोलह वर्ष की कन्या हो जाऊँ तो वह सोलह वर्ष की कन्या हो गई और तुम्हारे पुत्र ने वरदान माँगा कि मेरी माँ शूकरी हो जाए तो वह शूकरी हो गई। अब तू माँग क्या माँगता है? ब्राह्मण ने कहा, बाबा! मुझे वरदान दो कि जैसे हम पहले थे वैसे ही हो जाएँ। मेरी स्त्री

मेरा बच्चा मेरे पास आ जाएँ। नारदजी ने कहा सही में सात जन्म तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा।

तुलसी मन परिहरत नहीं घुर बिनियां की बान ।

कूड़े पर दाना बीनने की जो बान लगी है, उसको मन कैसे छोड़े? मन की ऐसी गति है कि वह अपनी दिशा में ही जाता है इसलिए सद्गुरु एक नहीं हज़ार मिल जाएँ जब तक उनके वचनों में विश्वास न हो और **'संजम यह न बिषय के आसा'** यह शर्त हो साथ में कि उनसे तत्त्व विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान तथा ईश्वर प्राप्ति के सिवा और किसी प्रकार की कामना न होगी, संसार की आशा नहीं होगी।

रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनुपान श्रद्धा मति पूरी ।।
ऐहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं । नाहिं ता जतन कोटि नहीं जाहीं।।

यह प्रक्रिया है साधन की मानस रोग नाश करने के लिए। एक जगह और तुलसी भुषुण्डि जी के मुँह से कह रहे हैं–

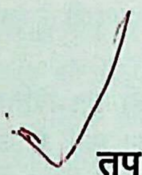
निज अनुभव अब कहेंऊ खगेसा । बिनु हरिभजन न मिटहिं कलेसा।।

क्लेश को नाश करने के लिए यहाँ पर भी भगवान् की भक्ति को ही कहा है। गीता में भी भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इस अविद्या को वही पार कर सकता है जो मेरी शरण में आ जाए।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता ७/१४)

क्लेश नाश का उपाय है ईश्वर प्रणिधान। यहाँ पर क्रियायोग **'क्लेशतनूकरणार्थश्च'** क्लेशों को क्षीण करके समाधि के योग्य बनाता है। समाधि की पूर्णता में क्लेश सदा के लिए दग्ध बीज होकर नाश हो जाते हैं, यह उसका क्रम है। इसलिए क्रियायोग में पूरा साधन है। है यह थोड़ा सूक्ष्म और व्यापक लेकिन मैं ऐसा समझता हूँ कि आप लोगों के लिए जो उपयोगी साधन है, वह क्रियायोग ही है, इससे बढ़िया और कोई साधन नहीं। □



तप

मनुष्य जन्म से साधक है क्योंकि साधन की सामग्री उसे उपलब्ध है। साधकता मनुष्य में जन्म सिद्ध इसलिए है क्योंकि जन्म से जिस स्थिति में वह होता है उससे अधिक होने की चाह रखता है। जिसमें अपनी वर्तमान स्थिति से असंतोष और भविष्य में इससे अधिक होने की अभिलाषा है, वह सहज रूप से ही साधक है। उस अभिलाषा की पूर्ति के साधन उसके पास मौजूद हैं। उस सामग्री का यदि वह सदुपयोग करता है तो जो वह भविष्य में होना चाहता है वह हो जाता है और इसी को सिद्धि कहते हैं। योगदर्शन कैवल्यपाद का सूत्र–

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् । (यो.सू. ४/१०)

अर्थात् मनुष्य की साधकता स्वयं में अनादिकाल से चली आ रही है। अनादि माने जिसका आरम्भ नहीं स्वभावतः सहज अनादि है क्योंकि **'चाशिषो नित्यत्वात्'** उसमें आशी की भावना नित्य है। 'आशी' माने कल्याण अर्थात् कल्याण की भावना, अधिक आगे बढ़ने की भावना, पूर्णत्व को प्राप्त करने की भावना नित्य है। उसके साथ ही पूर्णत्व को प्राप्त करने की साधना भी नित्य है इसलिए उसका साधकत्व अनादि काल से सिद्ध है।

अब मिली हुई सामग्री को साधक साधना में कैसे प्रयुक्त करे, यह बताना शास्त्र और गुरु का कार्य है। शास्त्र ईश्वरीय विधान से प्राप्त दिव्य विज्ञान कोष है और गुरु ईश्वरीय विधान से उपलब्ध ईश्वर की ज्ञानात्मक विभूति है इसलिए गुरु और शास्त्र में प्रत्यक्षवत् विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा ही यथार्थ ज्ञान की जननी है। गीता

के चतुर्थ अध्यायं में भगवान् कह रहे हैं –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता ४/३६)

अर्थात् जितेन्द्रिय, तत्पर हुए, श्रद्धावान् पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है। मैं आप लोगों को जिस प्रकार से मिली हुई साधना की सामग्री का सदुपयोग करके सिद्धि प्राप्त करने की राह बता रहा हूँ ,वह शास्त्र-सम्मत तो है ही अनुभूत भी है, जिसके विषय में पतंजलि के अनुसार साधन की चार प्रक्रियायें बताई गई हैं–ध्यानयोग, नादयोग, क्रियायोग और अष्टांगयोग। मूल तो वही ध्यानयोग है। स्वस्वरूप की अखण्ड स्मृति और उसके लिए अवलम्बन रूप में प्रणव को स्वीकार करके नादयोग अथवा शब्दयोग अथवा सुरतियोग की साधना करनी चाहिए। एकाएक जो साधक इस स्थिति में नहीं कि नादयोग वा ध्यानयोग में प्रवृत्त हो सके, उसके लिए क्रियायोग है। जो इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं उनके लिए यह तैयारी की स्थिति है लेकिन यह बात ध्यान में रहे कि है यह अपने आप में पूर्ण साधना।

एक सड़क जिसके किनारे तुम बैठे हुए हो वह शहर से जुड़ी हुई है। वह शहर चाहे हज़ारों मील दूर क्यों न हो परन्तु जब तुम सड़क को स्पर्श करते हो तो यह मत भूलो कि उस सड़क के साथ उस शहर को भी स्पर्श किये हो। सड़क को जब आप छू लिए तो आप शहर से अछूते नहीं। हाँ, इतना ज़रूर है कि सड़क आपको सामने दिखाई दे रही है और शहर दिखाई नहीं दे रहा। आप उस सड़क से चलते जाइये, एक दिन आपको शहर भी दिखाई देने लगेगा। उस शहर को तो आप उसी दिन छू लिए जिस दिन आपने सड़क को छू लिया। इसी प्रकार सिद्धि को साधक ने उसी दिन हस्तगत कर लिया जिस दिन उसने सही साधन को प्राप्त कर लिया। जिस समय आप अमेरिका से यहाँ का टेलीफोन मिलाते हैं और जब लाइन मिल जाती है, उस समय आप अमेरिका और यहाँ से एक होते हैं या अलग? देरी तभी तक है जब तक सीधी लाइन

नहीं मिली। सीधी लाइन मिलते ही न देरी है न दूरी। उस समय आप उससे एक हो जाते हैं। इसी तरह साधक अपने साध्य से तब तक विमुख है जब तक उसे सही साधना की राह नहीं मिलती। सही साधना की राह स्पर्श करते ही साधक ने अपने साध्य को स्पर्श कर लिया। अब वह न उससे दूर है न अलग। क्रियायोग की जो साधना है, वह उस राह को स्पर्श करने वाली साधना है जो कि लक्ष्य और साधक या साध्य और साधक को जोड़ देती है इसलिए क्रियायोग की बड़ी महिमा है।

मैं अपनी बात बताऊँ जब शुरू–शुरू में मैं साधन में प्रवृत्त हुआ तो क्रियायोग के द्वारा ही हुआ। अष्टांगयोग तो मैंने उसके बाद अपनाया। वह इसलिए कि एक तो कुछ संस्कार रहे होंगे दूसरा यह कि यदि हम उसका क्रियात्मक प्रयोग न किये होते तो दूसरे को बता नहीं सकते थे। केवल दूसरों को समझाने के लिए बाद में अष्टांग योग की विधियाँ अपनानी पड़ीं। अष्टांग योग में भी हठयोग की सारी क्रियायें करनी पड़ीं या स्वभावतः होती रहीं। पूर्वजन्म के जो संस्कार होते हैं वे अपने आप आ जाते हैं लेकिन साधारण लोगों के लिए जहाँ तक मेरी राय है कि जो शिक्षक बनना चाहते हैं, उन्हें दूसरों को उपदेश देने के लिए, समझाने के लिए सारी जानकारी होनी चाहिए। मैं बता रहा था कि यदि हमें अपने जीवन को साधन के रास्ते पर ले जाना है, साध्यानुभूति करनी है तो उसके लिए क्रियायोग सर्वोत्तम है, विशेषकर गृहस्थ में रहने वालों के लिए तो बहुत ही उत्तम है।

क्रियायोग में पहला स्थान तप का है। इन्द्रियाँ, शरीर और मन को शुद्ध करने वाली जितनी क्रियायें हैं उनका नाम तप है । तप की व्याख्या योगदर्शन के साधनपाद में की गई है –

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (यो॰ सू॰ २/४३)

अर्थात् तप शरीर और इन्द्रियों की निर्मलता तथा अशुद्धि का नाश

करता है। यहाँ सिद्धि माने संयम और शुद्धि माने निर्मलता अर्थात् शरीर और इन्द्रियों का संयम तथा मल का नाश तप से होता है। तप शारीरिक, वाचिक, मानसिक के साथ–साथ बौद्धिक भी होता है।

शारीरिक तप क्या है? जैसे अग्नि में तपाकर धातु का मल शोधन किया जाता है, इसी प्रकार जिन क्रियाओं से अपने शरीर का मल शोधन हो जाए, वे सब क्रियायें तप हैं। शरीर का मल शोधन करने में आसन, प्राणायाम तथा षटकर्म आ जाते हैं। जैसे आजकल आप लोग नेति करते हैं, देखते हैं कि मल बाहर निकलता है, यह शुद्धि ही तो हो रही है। इस मल शोधन की क्रिया का नाम ही तो तप है। तप अन्नमय कोष से प्रारम्भ होकर विज्ञानमय कोष तक चलता है। विज्ञानमय कोष से ज्ञानमय तप होता है और जब मनोमय कोष से नीचे प्राण में आप स्थित होते हैं तो प्राणमय तप हो जाता है। शरीर में हैं आप अर्थात् अन्नमय कोष में तो व्रत, उपवास, आसन आदि और भी क्रियायें हैं जिनसे शरीर का शोधन होता है। जो आसन, प्राणायाम में रुचि नहीं रखते हैं, वे आहार संयम से उसकी कमी को पूरा कर सकते हैं। एकाहार करके, एकाहारी होकर और पयाहारी होकर भी कर सकते हैं। मैं अपनी बात बताऊँ, मैं कई वर्षों तक दूध–फल लेता रहा, फिर दूध–केला लेता रहा, फिर केला भी छूट गया तो दूध ही लेता रहा। मेरे कहने का अभिप्राय व्यक्ति की साधना के लिए यह भी एक रास्ता है, बहुत अच्छा रास्ता है।

मैं अपने जीवन की एक घटना आप लोगों को सुनाऊँ! एक बार मैं साधन में प्रवृत्त हुआ तो मैंने नियम लिया था। मैं साधन में हमेशा चालीस दिन की, एक्यावन दिन की, एक सौ आठ दिन की, इक्कीस दिन तो एक दो बार किया होगा, इस क्रम से रहा। उन दिनों मैं उनचास दिन की साधना में बैठा था। मैंने यह अनुभव किया है कि जो लोग साधन करते हैं और गृहस्थ में जो पड़ चुके हैं अर्थात् गृहस्थी में रह चुके हैं उनको जितनी सुविधा साधन में गृहस्थी के

साथ है उतनी अलग नहीं। उन दिनों यदि मुझे साधना करनी होती थी तो मैं घर चला जाता था। वहाँ रहता और बाद में हवन करके वहाँ से लौट आता था। उन दिनों की साधना में मैं प्रातः चार बजे उठ जाता था, शौचादि से निवृत्त होकर पाँच बजे तक अन्दर चला जाता था। सर्दियों के दिन थे। लोग प्रातः छः–सात बजे तक उठते और मैं छः बजे तक अन्दर चला जाता था। उसके बाद सन्ध्या को जब सब लोग अन्दर चले जाते थे तो मैं बाहर निकलता था। काष्ठ मौन था। किसी से बोलना होता नहीं था। करीब चालीस दिन बीत चुके थे। साधना तो मेरी लम्बी चली आ ही रही थी। कई मास, वर्ष बीत चुके थे। मुझको लगा कि अब मैं ठोस भूमिका में पहुँच चुका हूँ। जब मैं शरीर की ओर देखता था तो शरीर की एक–एक हड्डी दिखाई देती थी और मैं सोचता था मेरे पास विकार नाम की चीज़ नहीं है। विकार आये भी कहाँ से? उन दिनों मैं पानी भी नहीं पीता था केवल दूध लेता था, दूध में पानी तो होता ही है, उसी से पानी की पूर्ति भी हो जाती थी। चालीस दिन ऐसे ही बीत गये। चालीस दिन न तो मुझे कभी लघुशंका की ही शिकायत हुई, न बाहर जाना न आना। एक दिन की बात कि जिस दिन यह बात दिमाग में आई कि मेरे में विकार नाम की कोई चीज़ नहीं है, प्रातः दस बजे मुझे लघुशंका आई। मैं बड़ा हैरान हुआ कि क्या हुआ है? सोचता रहा क्या करें। बाहर निकलें तो लोग होंगे और पेशाब ऐसी चीज़ है कि रोक नहीं सकते थे। प्रातः दस बजे से सांयकाल सात बजे तक ऐसे बैठना भी तो आसान नहीं था। उठा, बाहर दरवाज़े तक आया, देखा कोई नहीं है। पेशाब करके लौटा ही तो देखा बच्छा मेरी लँगोटी खा रहा था। मैं जाकर बच्छे के मुँह से लँगोटी खींचने लगा। शरीर में इतनी शक्ति तो थी नहीं। जब दो–तीन बार खींचा तो उसने झुककर मुझे ऐसे मारा कि मैं गिर गया। गिरने के तुरन्त बाद मुझे गुस्सा आ गया। मैं इधर–उधर देखने लगा। एक पड़ी हुई लाठी

उठाई और खींचकर बच्छे को मार दी। बच्छे की पीठ पर एक लम्बी–सी लकीर खिंच गई और बच्छा गिर गया। बच्छे का गिरना और जैसे कोई मेरे कान में कह रहा हो–क्यों जी, पहुँच गए? यह तो अभी क्रोध का नमूना है आगे काम है, लोभ है, मोह है। इतने में होश आया। मैंने सोचा यदि बच्छा मर गया तो सारी साधना मिट्टी में मिल जाएगी। गो–हत्या! इतना बड़ा पाप! मैंने बच्छे को गोद में लिया और पुचकारने लगा। जहाँ लाठी लगी थी वहाँ हाथ से मालिश करने लगा। मैं रो रहा था, बस मैं और मेरे प्रभु ही थे। उस समय मेरी स्थिति समझिए कितनी संगीन रही होगी। थोड़ी देर बाद मेरी आँख खुली और मैंने देखा बच्छा मेरी ओर देख रहा था और उसकी पीठ पर कहीं लाठी का निशान नहीं था। बच्छा खड़ा हो गया और मुझे चाटने लगा। मैं उठकर अन्दर आ गया और मैंने निश्चय किया–

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई।।

यह बात याद रखो कि शरीर सुखाकर आप हड्डी–हड्डी कर दीजिए तब भी यह उपलब्धि अपने परिश्रम का परिणाम नहीं है। उन दिनों मुझे सबक मिला और मैंने विनय पत्रिका में तो पढ़ा ही था–

तरु-कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे ।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ।।

(विनय पत्रिका ११५/३)

एक पेड़ की कोटर में एक पक्षी रहता है, उस पक्षी को आप मारना चाहो तो पेड़ काटने से पक्षी तो नहीं मरेगा इसलिए तुलसीदासजी ने एक और उपमा दी है –

अन्तर मलिन बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
मरइ न उरग अनेक जतन वलमीकि बिबिध बिधि मारे ।।

(विनय पत्रिका ११५/४)

एक बिल में साँप है। आपको पता चल गया कि उसमें साँप है। आप बिल पर लाठी मारो, मुदगर मारो, तलवार मारो, उससे क्या साँप

मरेगा? बिल्कुल नहीं मरेगा। तुलसीदास जी कहते हैं कि भले आदमी! रोग तो तेरे अन्दर है, बाहर से चाहे इस शरीर को काट डालो, इसे रगड़कर धोते रहो, चाहे इसे सुखा दो, इस शरीर के साथ चाहे तू कितना ही अन्याय क्यों न कर परन्तु तेरे अन्दर वाला रोग नहीं जायेगा। उन्होंने एक और उपमा दी–

घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिम्ब दिखावै।
ईंधन अनल लगाइ कलपसत, औटत नास न पावै।।

(विनय पत्रिका ११५/२)

जैसे एक कड़ाह घी से भरा हो उसमें शशि का प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। उस प्रतिबिम्ब को मिटाने के लिए तुम कड़ाह के नीचे आग जला दो। आप घी को उबालते रहो, जब तक घी है तब तक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब नष्ट नहीं होगा। इसी रूप से तुम्हारे शरीर रूपी कड़ाहे में जो वासना रूपी घी भरा हुआ है, उसके अन्दर जो मन रूपी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है, उसको नाश करने के लिए तुम शरीर को तपाते रहो किन्तु जब तक वासना बनी है तब तक मल का नाश नहीं हो सकता। जो दिखाई दें रहा है वह कामना की छाया है। उसे तुम नष्ट करने के लिए शरीर को सुखा दो, शरीर को नष्ट कर डालो, शरीर के नीचे पंच अग्नि तापो, चारों ओर आग लगाकर बीच में बैठ जाओ, इससे तुम्हारे अहं की पुष्टि तो हो सकती है किन्तु यह साधन नहीं। इसलिए तुलसीदास जी ने कहा है –

मैं हरि, साधन करइ न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोस कहा दिरमानी।।

(विनय पत्रिका १२२–१)

हे प्रभो! हम साधन करना नहीं जानते। जैसे हमारा रोग है वैसे औषधि तो हम करते नहीं और वैद्य को दोष देते हैं। वैद्य का दोष क्या? वैद्य का दोष है या इलाज का? जैसा रोग है वैसा प्रयत्न करो। रोग तो अन्दर है प्रयत्न हम बाहर करते हैं। साधना अन्तर की वस्तु

है बाहर की वस्तु नहीं। हाथ–पाँव मोड़ो, ऊपर–नीचे लटको, यह साधना नहीं। साधना का तो केवल इतना ही प्रयोजन है कि जीवनी शक्ति को जो नीचे की ओर प्रवाहित हो रही है खींचकर ऊपर की ओर ले जाना है लेकिन इसके लिए हम जितने भी प्रकार के साधन अपनाते हैं, वे सारे बाह्य हैं, शारीरिक हैं। हम मान लेते हैं और सोचते हैं कि इन्हीं के द्वारा हमारा उद्देश्य पूर्ण हो जायेगा। गलती यह करते हैं कि हम बाह्य क्रियाओं को ही साधन मान लेते हैं। यह साधना नहीं यह तो तैयारी की प्रक्रियायें हैं। सारी साधना का सम्बन्ध तो अन्दर से है। जिन–जिन दोषों से चित्त मलिन हो रहा है, उन–उन दोषों को दूर करना है। जिस संकल्प से चित्त मलिन हो रहा है उस संकल्प को दूर कर दो। संकल्प को संकल्प जानकर दूर न करो संकल्प में उस दोष को समझो, रोग अपने आप दूर हो जायेगा। मेरे कहने का अभिप्राय तप का प्रयोजन है सजगता, केवल भूखे मरना या हाथ–पाँव मोड़ना नहीं।

वाचिक तप क्या है ? 'अनुद्वेगकरं वाक्यं' अर्थात् दूसरों को उद्वेलित करने वाली, व्यथित करने वाली, हृदय में हलचल पैदा करने वाली वाणी न बोलो। सदैव सत्य, प्रिय शब्दों का प्रयोग करो तथा अप्रिय सत्य भी न बोलो। अप्रिय से आपका भी अहित होगा दूसरे का भी। यदि सत्य भी है, प्रिय भी है परन्तु हितकारक नहीं तो भी बोलने से क्या लाभ ? दूसरे को अभिमानी व अहंकारमय बनाने के लिए उसे कर्णप्रिय शब्द कहना सत्य का घोर विरोध है इसलिए यह कहा गया है कि सत्य तो बोलो पर वह साथ में प्रिय भी हो तथा हितकारक भी।

मानसिक तप क्या है ? 'मनः प्रसादः' अर्थात् जीवन की क़ठिनाइयों को सहन करके प्रसन्न रहना ही मन का तप है।

बौद्धिक तप क्या है ?–उसके सम्बन्ध में उपनिषदों में बताया गया है–**'यस्य ज्ञानमयं तपः'** अर्थात् जिसका तप ज्ञानमय है।

ज्ञानमय तप से क्या अभिप्राय? तैत्तिरीय उपनिषत् भृगुवल्ली में ऐसा आता है कि शिष्य गुरु के पास जाता है और पूछता है कि मुझे ब्रह्म के विषय में बताओ। गुरु कहता है –

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय. ३/२)

अर्थात् तप द्वारा ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा कर क्योंकि तप ही ब्रह्म है। तप के अतिरिक्त और कुछ ब्रह्म नहीं। रामायण में तुलसीदास जी ने बालकाण्ड में लिखा है –

तपबल रचइ प्रपंच बिधाता। तपबल बिष्णु सकल जगत्राता ॥
तप आधार सब सृष्टि भवानी। करिअ जाइ तप अस जिय जानी ॥

सारी सृष्टि ही तप पर आधरित है। वेद में आता है–

स तपो तप्त्वा लोकान् असृजत् ।

अर्थात् उसने तप तपा फिर लोक की रचना की। तप का अर्थ है शुद्ध चिन्तन। तप माने वहाँ भगवान् भूखा नहीं मरा, उलटा नहीं टँगा। उसने तप तपा और लोकों की रचना की। हिरण्यगर्भ व विराट् पुरुष ने एक से अनेक होने के लिए व सृष्टि रचना के लिए तप, विचार या संकल्प किया। अभिप्राय यह है कि शुद्ध संकल्प, शुद्ध चिन्तन ही बौद्धिक तप है। इसलिए हर एक स्थिति में तप को समझो।

किसी क्रिया को इसलिए मत करो कि उसको करना चाहिए, इसलिए करो कि आपके लिए उसकी उपयोगिता है। किसी क्रिया को रूटीन मत बनाओ। नियम बनाना हो तो अभ्यास और वैराग्य को बनाओ। किसी क्रिया को रूटीन बना लोगे तो वह कर्म बन जाएगा साधन नहीं रहेगा। जो बात या काम रूटीन में आ जाता है उसे साधन नहीं कहते, वह तो फॉरमैलिटी हो जाता है। कितने ही लोग मेरे पास आकर कहते हैं कि 'हम दुर्गा मैय्या की आरती करते हैं', शंकर जी की आरती करते हैं, यह जो आप साधन बताये हो केवल इसे ही करें, ये सारी आरतियाँ हम छोड़ दें? मैं कहता

हूँ नहीं छोड़ो भैय्या, परन्तु सारा समय तो तुम्हारा आरतियों में ही लग जाएगा, ध्यान कब करोगे? एक माँ मेरे से कहने लगी आज मैंने 'जय जगदीश हरे' की आरती की तो मुझे ऐसा लगा कि जैसे दुर्गा मैय्या देख रही हो और कह रही हो कि तूने मेरी आरती क्यों नहीं की! यह है रूटीन। जो बात रूटीन में आ जाती है वह फिर साधन नहीं रहती। साधन तो वह तत्त्व है जो तुम्हारी प्रसुप्त शक्ति को जागृत कर दे और रूटीन वह तत्त्व है जिससे होकर तुम चले जाते हो, तुम्हें पता ही नहीं चलता। कितने लोग रामायण का पाठ करने का नियम लेते हैं। रामायण का पाठ हो रहा है, वे सारा सुन्दर काण्ड पढ़ जाते हैं परन्तु उन्हें पता नहीं चलता कि हनुमान इस समय लंका में जा रहे हैं या वहाँ से आ रहे हैं। पाठ करते–करते पाठ याद हो जाता है, चौपाइयाँ चल रही हैं परन्तु यह सब रूटीन में ही चल रहा है। मेरे कहने का अभिप्राय साधन को रूटीन मत बनाओ। रूटीन बनाना हो तो अभ्यास को बनाओ जिसे ध्यान कहते हैं। बार–बार चित्त को अपने कारण में स्थित रखो जिससे जागृति बनी रहे, यही मूल बात है। तप का प्रयोजन यही है कि तुम्हारी सजगता बनी रहे। इन्द्रियों में मल, मन में विक्षेप और बुद्धि में आवरण, ये साधन के अवरोधक तत्त्व हैं और इन तत्त्वों का क्रियायोग से ही निराकरण होता है अर्थात् तप से मल का, स्वाध्याय से विक्षेप का और ईश्वर प्रणिधान से आवरण का नाश होता है। हमारे जीवन को दोषयुक्त बनाने वाले यही तीन तत्त्व हैं–मल, विक्षेप और आवरण। शरीर तथा इन्द्रियों को मल ने, मन को विक्षेप ने और बुद्धि को आवरण ने दूषित कर रखा है। तुलसीदास जी ने विनय–पत्रिका में इस विषय पर बड़ा सुन्दर पद लिखा है –

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई ।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई ।।

T

तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै ।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै ।।

(विनय पत्रिका ८२)

अर्थात् मोह से उत्पन्न जो अनेक प्रकार का मल लगा हुआ है वह करोड़ों उपायों से भी नहीं छूटता। अनेकों जन्मों से यह मन पाप में लगे रहने का अभ्यासी हो रहा है इसलिए यह मल अधिकाधिक लिपटता ही चला जाता है। इस पाप के धुलने के लिए वेद तो व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक उपाय बतलाता है परन्तु हे तुलसीदास! श्रीराम के चरणों के प्रेमरूपी जल बिना इस पाप रूपी मल का समूल नाश नहीं हो सकता। क्रियायोग की महिमा इसलिए है क्योंकि तप, स्वाध्याय द्वारा क्लेश तनु हो जाते हैं और यदि क्लेश तनु हो गये तो मेरी राय है कि –

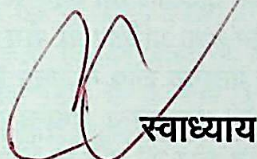
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । (यो. सू. २/४५)

ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्धि हो जाती है। यह पूर्णत्व की साधना है इसलिए तप की बड़ी महिमा है।

हरि ॐ तत्सत्



T



स्वाध्याय

क्रियायोग का दूसरा अंग है स्वाध्याय। स्वाध्याय शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। जैसे मैंने पहले भी एक दिन बताया था कि स्वाध्याय में तीन बातें आती हैं– १. आत्मानुसन्धान, आत्म दर्शन या स्व का अध्ययन, २. सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा ३. मन्त्र जाप। जब तक इन तीनों के द्वारा स्व की स्थिति का यथार्थ बोध नहीं हो जाता तब तक चित्त का विक्षेप समाप्त नहीं हो सकता। विक्षेप का अर्थ होता है चंचलता। स्वाध्याय से विक्षेप का नाश किया जाता है। जब कभी जो भी व्यक्ति देश, काल, परिस्थिति के अनुसार स्वयं की अवस्था के अध्ययन में प्रमाद करता है, उस समय उसके जीवन के विकासमय सम्पूर्ण स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं। स्व का जब आप अनुसन्धान करेंगे तो आपको पता चल जाएगा कि आपका स्व अन्नमय कोष में है, प्राणमय कोष में है, विज्ञानमय कोष में है या आनन्दमय कोष में। आपकी आत्मीयता किसके साथ है? आप किसके साथ युक्त हुए हैं? देखना यह है कि शरीर में हैं या शरीर से ऊपर भी उठे हैं। शरीर में आप हैं, इसका प्रमाण है कि शरीर के भरण–पोषण, शरीर के स्वाद और शरीर की चीज़ें ही आपको प्रिय हैं। रामायण में तुलसीदास जी ने इन्हीं लोगों के लिए अयोध्याकाण्ड में कहा है –

जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ।

परन्तु एक बात और याद रखें कि मनुष्य बहुत कम शरीर में रहता है, शरीर पोषक मनुष्य बहुत कम होते हैं। मनुष्य का स्व अधिकतर

अन्नमय कोष में नहीं प्राणमय कोष में रहता है। हमारा स्व प्राणमय कोष में है इसका प्रमाण क्या? यदि प्राणमय कोष से सम्बन्धित तत्त्वों में हमारा राग, विषयों से राग तथा परिवार से राग होता है तो हम प्राणमय कोष में हैं। परिवार प्राणमय कोष में आता है, अन्नमय कोष से भी यह थोड़ा सम्बन्धित है। रक्त जन्य सम्बन्ध प्राणमय कोष से सम्बन्धित हो जाते हैं। प्राणमय कोष की पूर्ति के लिए अर्थात् परिवार के लिए धन चाहिए तो हम धन एकत्रित करने के साधनों में ही लग जाते हैं। परिणामतः जीविका के साधन में ही हम सारा समय लगा देते हैं, मन के साधन के लिए तो समय ही नहीं मिलता। मनुष्य की स्थिति, उसका लगाव किसमें है, इसका बोध स्वाध्याय द्वारा ही हो सकता है इसलिए वेदान्त का सन्देश है—अपने आपको जानो। अब यदि स्व की स्थिति का पता लग गया तो विक्षेप दूर हो जाएगा अर्थात् मन की गतिशीलता, मन की दौड़ समाप्त हो जाएगी।

कभी–कभी ऐसा भी होता है कि हमारा अपने विषय में अनुमान भी गलत हो जाता है। जैसे मैंने कल अपनी कहानी सुनाई थी कि हम होते कहीं और हैं और अकड़ में आकर अपने आप को कहीं और मान बैठते हैं। यह अनुमान अहंकार में ही नहीं कभी–कभी ईमानदारी से भी गलत हो जाता है क्योंकि हर एक व्यक्ति चौबिस घण्टे एक ही जगह स्थित नहीं होता। कभी हमारी सात्त्विक वृति बनी तो उसमें तो हम सतोगुण में रहे और उस समय हमने जो अपना अनुमान कर लिया वह सदैव रहने का नहीं क्योंकि सात्त्विक वृति भी तो ,स्थाई नहीं। सात्विक से जब राजसिक वृति आई तो सारा अनुमान गलत हो गया। जब तमोगुणी वृति आ गई फिर तो उसका भी दिवाला निकल गया। वृतियाँ तो आयेंगी ही क्योंकि इन गुणों से तो ऊपर हम हुए नहीं हैं। गुणातीत जो हैं उनमें भी वृतियाँ तो आती हैं लेकिन वे उनके साथ अटैच नहीं होते। स्वाध्याय करते समय अपने विषय में कभी–कभी जो गलत–फहमी होती है, उस समय

T

अपने तथा उसके विषय में सजग रहना चाहिए।

तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में इस सम्बन्ध में बड़ी सजग होने की बता कही है। वह कहते हैं कि जैसे सूम व्यक्ति का धन के ऊपर ही हाथ रहता है कि कहीं उसकी गाँठ तो नहीं खुल गई, ऐसे ही हमेशा सजग होकर स्वाध्याय करते रहना चाहिए और देखते रहें कि गाँठ बँधी है कि खुल गई है। इससे हमारा अनुमान कभी गलत नहीं होगा। मैंने देखा है बहुत से लोगों को जो घर से नाराज़ होकर हरिद्वार चले आते हैं और निश्चय करते हैं कि अब तो महात्मा ही बनना है। सोचते हैं, क्या रखा है इस जंजाल में परन्तु दूसरे ही दिन जब गंगा के किनारे गये, देखा कि कोई छोटा बच्चा रो रहा है, स्त्री उसे नहला रही है तो कल्पना में सोचने लगते हैं, मेरी भी स्त्री थी, बच्चा था, घर था, परिवार था और तुरन्त वहाँ से वह घर पत्र लिखते हैं कि घबराना नहीं मैं हरिद्वार आया हूँ, थोड़े दिन में आ जाऊँगा। व्यक्ति की वह स्थिति खतरनाक है। ऐसी घटनायें मैंने देखी हैं।

एक बार एक महात्मा मेरे पास आये। उन दिनों मैं उदयपुर में था। वह आते ही पाँवों में गिर गये और ज़ोर–ज़ोर से रोने लगे। मेरे से कहने लगे मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैंने पूछा, तुम रो क्यों रहे हो? वहाँ मेरे शिष्य रहते हैं धर्मनारायण। मैंने उनसे कहा, इन्हें कुछ खिलाओ–पिलाओ। कहने लगे मैंने कुछ खाना–पीना नहीं। यदि आप यह कह दोगे कि शरण में ले लिया तो कुछ खाऊँ–पीऊँगा। मैंने कहा, अच्छा आप बात तो बताओ। कहने लगे अकेले में बताना है। मैंने सोचा यह किसी आफत में तो नहीं फँस गया। अन्दर आये तो अपनी कहानी सुनाने लगे कि महाराज मुझे सन्यास लिए दस वर्ष बीत गये। जब भी मैं कभी अकेले बैठता हूँ तो मेरा परिवार मेरे सामने आ जाता है। अब मैं सन्यासी हो गया हूँ परन्तु कई बार निश्चय किया कि मैं कपड़े फेंककर घर चला जाऊँ

लेकिन मैंने सुन रखा है और शास्त्रों में भी यह लिखा है कि यदि कोई ऐसा करता है तो उसकी इक्कीस पीढ़ी नरक में जाती है, अब आप ही मेरे मार्गदर्शक हैं, बताइये! क्या करूँ ? मैंने कहा, पागल आदमी! घर जाने की रुचि हो तो चले जाओ, पाप काहे का इसमें रखा हुआ है। जो पाप होगा सब मेरे हवाले कर देना। उसके बाद वह कई दिन तक मेरे पास रहा, विचार सुनता रहा जिससे उसका जीवन बदल गया। फिर मैंने पूछा कि अब क्या निश्चय किया है? कहने लगा अब नहीं घर जाऊँगा, मुझे सत्य का बोध हो गया है। तो यह मैं आपको बता रहा था कि कभी–कभी अपने विषय में हमारा अनुमान गलत होता है। उसके लिए सतत स्वाध्याय करते रहना चाहिए। **'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** क्योंकि स्वाध्याय के अभाव में न तो हमें सत्यासत्य का बोध ही प्राप्त हो सकता है और न ही हम स्वगत तथा स्वीकृत धर्म के स्वरूप को ही जान सकते हैं। सत्य तथा धर्म, इन दोनों के स्वरूप का बोध हमें स्वाध्याय से ही प्राप्त होता है। स्वाध्यायरत व्यक्ति में कभी भी पुनः अहंकार, प्रमाद तथा मोह आदि के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती।

स्वाध्याय का आधार है–सत्संग। जिसका अभिप्राय होता है सत्पुरुषों के सान्निध्य में जाकर सत्य की जिज्ञासा को पूर्ण करना तथा सत्शास्त्रों का अनुशीलन करते हुए सत्तत्त्व उस परम सत्ता में अनुरक्त रहना। स्व से सम्बन्धित जितने ग्रन्थ हैं, वे प्रकाशस्तम्भ के समान हैं। जैसे दर्पण को आधार बनाकर अपनी आँखों का मल देखा जाता है, वैसे ही सद्शास्त्र रूपी दर्पण के द्वारा मानव अपने अन्दर रहने वाले दोषों को देख सकता है। यदि इन शास्त्रों के माध्यम से आप स्व को नही समझ सके तो शास्त्रों का अध्ययन व्यर्थ है। नीतिशास्त्र में कहा गया है –

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्र तस्य करोति किम् ।
नयनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति ।।

अर्थात् जिसकी अपनी बुद्धि नहीं शास्त्र उसके लिए क्या करेगा ? इसके लिए उदाहरण बड़ा अच्छा दिया है कि नेत्रहीन के लिए शीशे का क्या महत्व ? शास्त्र दर्पण है। जैसे शीशा आपके शरीर पर लगे हुए मल को दिखा तो सकता है लेकिन कब ?

है दीखता निज रूप हो, जब मुकुर नयन मिलाप रे ।

अर्थात् अपने रूप को, अपने यथार्थ स्वरूप को आप दर्पण के माध्यम से तभी देख सकते हैं जब आँखे उससे मिलें। शास्त्र आपको तभी प्रज्ञा दे सकता है जब आपकी प्रज्ञा उससे युक्त होगी। कहने का अभिप्राय जैसे केवल शीशा देखने से मल नहीं चला जाता, उसे साफ करना होता है, उसी प्रकार शास्त्र पढ़ व सुन लेने से हमारी कमी पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक शास्त्र के प्रकाश में उस दोष को दूर करने के उचित प्रयत्न न हों। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए सत्संग अनिवार्य है। तुलसीदास जी ने भी कहा है–**'बिनु सत्संग बिबेक न होई'**। इसके लिए स्वाध्याय का आधार है सत्संग और उसमें शास्त्र अध्ययन से अपनी यथार्थ स्थिति का बोध हो जाता है।

स्वाध्याय माने मन्त्र–जाप भी होता है। गीता के सत्रहवें अध्याय में स्वाध्याय को वाङ्मय तप बताया गया है जिसका अभिप्राय होता है वाणी का तप। भगवान् कह रहे हैं–

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।

(गीता १७/१५)

अर्थात् परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है। योगदर्शन में स्वाध्याय का फल इष्ट देवता का दर्शन बताया गया है–**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः**। जब हम मन्त्र जाप के साथ विशेष रूप से अपने इष्ट देव की उपासना करते हैं तो उससे इष्ट देवता का दर्शन होता है। इष्ट देवता का दर्शन माने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार क्योंकि देव शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए भी है, परमात्मा के लिए भी तथा परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ

जो दिव्यता के स्रोत हैं, उनके लिए भी है। उपनिषद् में इस प्रकार का क्रम आता है–**'को देवः'**? देव कौन है? ऋषि उत्तर देता है –**'यो मनः साक्षी'**–जो मन का साक्षी है वह देव है। शिष्य कहता है–**'मम मनो दृश्यते मया'**–मेरे मन का साक्षी तो मैं स्वयं हूँ, मेरा मन तो मेरे ही द्वारा देखा जाता है। गुरु कहता है–**'तर्हि देवो त्वमेवाऽसि'** फिर तू ही देव है। वेद कहता है–**'एको देवः'** देव एक है अनेक नहीं। श्वेताश्वतरोपनिषत् में कहा है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।
(श्वेता. ६/११)

अर्थात् एक देव सर्वभूतों में व्याप्त है, वह सर्वव्यापी है, सर्वप्राणियों में निहित है, बैठा हुआ है, सम्पूर्ण प्राणियों की वही आत्मा है। सम्पूर्ण कर्मों का अध्यक्ष वही है अर्थात् अनुशासक वही है, चेता वही है, पवित्र और निर्गुण वही हैं। उपनिषद् में यह देव की परिभाषायें हैं। यह देव है अपना आप इसलिए जो लोग आत्मानुसंधन करते हैं, वे आत्मदर्शन करते हैं क्योंकि स्वाध्याय का फल है इष्ट देवता का दर्शन। परन्तु जहाँ पर इष्ट देवता को हम अपने स्व स्वरूप से विलग मानते हैं वहाँ पर वह विलग नहीं होता क्योंकि **'देवं भूत्वा देवमयजेत्'** ऐसा विधान है शास्त्र का कि देव होकर ही देव की आराधना की जा सकती है। आप मनुष्य बनकर देवता की उपासना नहीं कर सकते या असुर, राक्षस आदि अन्य अवस्थाओं में होकर देवता की उपासना नहीं कर सकते। आप देवता होकर ही देवता की उपासना कर सकते हैं। हमारे यहाँ उपासना में बैठने से पूर्व अपने में दिव्यता की भावना, देवत्व की प्रतिष्ठा करनी होती है और फिर देवता की उपासना होती है, आराधना होती है, चिन्तन होता है और तभी उससे लाभ भी होता है क्योंकि उपासना का अन्तिम प्रयोजन है देव के साथ अभिन्नता की अनुभूति। इष्ट के साथ अभिन्नता की अनुभूति तभी

हो सकती है जब आप देव जैसा बन जाएँ। साधन के क्षेत्र में स्वाध्याय की यह विशेष महिमा है कि स्वाध्याय करने वाला ही अपने यथार्थ स्वरूप को समझ पाता है और अपने यथार्थ को समझने वाला ही पूर्ण रूप से स्वयं को ईश्वर में समर्पित कर पाता है। अतः जीवन के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए सत्–असत् बोधयुक्त धर्माचरण की आवश्यकता होती है तथा धर्माधर्म निर्णय के लिए स्वयं की अवस्था का निरीक्षण एवं सत्शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य है।

हरि ऊँ तत्सत्



ईश्वर प्रणिधान

क्रियायोग का तीसरा अंग है ईश्वर प्रणिधान। ईश्वर प्रणिधान माने ईश्वर में स्वयं को स्थापित कर देना, रख देना अथवा समर्पित कर देना। यह विशेषतः समर्पण के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। साधना में और विशेष रूप से योग की साधना में ईश्वर को स्वीकार किया गया है और ईश्वर की विवेचना की गई है। योग जिस सिद्धान्त को मानता है वह समग्र सिद्धान्त सांख्य का है लेकिन सांख्य की साधना में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं क्योंकि सांख्य तत्त्ववादी दर्शन है, वह तात्त्विक विवेचन है। तात्त्विक विवेचन जब आप करने लगोगे तो आपको ईश्वर नाम की चीज़ नहीं मिलेगी। साधन में कुछ स्वीकार करके प्रवृत होना और कुछ न स्वीकार करके प्रवृत होना, ये दो प्रकार की साधन की प्रक्रियायें हैं। सांख्य किसी को स्वीकार किए बिना साधन में प्रवृत होता है इसलिए इसे वर्तमान के विद्वानों ने वैज्ञानिक दर्शन कहा है। सांख्य में जहाँ पर साधना की बात कही गई है वहाँ पर ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया, न ईश्वर प्रणिधान की ही वहाँ महिमा है और न तो ईश्वर की वहाँ विवेचना है।

कुछ लोगों का कहना है कि सांख्य ईश्वर को अस्वीकार करता है परन्तु मेरी ऐसी राय नहीं। मेरी राय में सांख्य ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता। साधन की प्रक्रिया में जहाँ तक महाभारत, श्रीमद्भागवत, वाल्मीकि रामायण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनमें सांख्य तत्त्व का विवेचन किया गया है वहाँ सांख्य के प्रतिपादक भगवान् कपिल स्वयं अपनी आराधना का उपदेश देते हैं। कपिल के

शिष्य आसुरी हैं और आसुरी के शिष्य पंच शिखाचार्य। पंच शिखाचार्य द्वारा दिया गया महाभारत में जनदेवजनक को उपदेश भी अपने में अद्वितीय स्थान रखता है। इन समस्त उपदेशों में ईश्वर को अस्वीकार नहीं किया गया बल्कि ब्रह्म तत्त्व की विवेचना की गई है और परमतत्त्व के अनुसंधान की प्रक्रिया बताई गई है। परम तत्त्व के अनुसंधान में न तो ईश्वर को अस्वीकार किया गया है और न ही उसकी आवश्यकता बताई गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई साधक ईश्वर को स्वीकार किये बिना आत्मानुसन्धान करना चाहता है आत्मा को स्वीकार करके तो वह कर सकता है, उसके लिए ईश्वर को स्वीकार करना ज़रूरी नहीं लेकिन यह है बुद्धि प्रधान लोगों के लिए। सांख्य दर्शन है ही बुद्धि प्रधान लोगों के लिए। उसमें बताया गया है कि आप बाह्य ईश्वर की कल्पना मत करो परन्तु अपने में तो आपको अविश्वास नहीं है। हम आपसे यह कहें कि परमात्मा स्वर्ग में बैठा है आप उस पर विश्वास करो। यह कहने पर आपको विश्वास हो भी सकता है नहीं भी हो सकता। आपके दिमाग में आ सकता है कि आपने कौन स्वर्ग को देखा है। यह तो शक्य हो सकता है परन्तु आपका अपना आप है कि नहीं, यह तो शक्य नहीं इसलिए कहा गया कि स्वयं का अनुसन्धान करो। ईश्वर वा किसी अन्य शक्ति के सम्बन्ध में मत सोचो। अपना अनुसन्धान करते समय आप अनुभव करेंगे कि आपके जीवन का स्रोत है और आपका जीवन उसका कार्य है कारण नहीं। आप स्वभावतः उस कारण को ढूँढ़ने का प्रयत्न करेंगे और उसी कारण को हम ईश्वर कहते हैं, आप इसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। यह अनुसन्धान की एक प्रक्रिया है। योग पहले ही ईश्वर को स्वीकार कर लेता है। योग कहता है ईश्वर है, उसकी आराधना करने से, उसमें स्वंय को स्थापित करने से, प्रतिष्ठित करने से, प्रणिधान करने से साधक को समाधि की सिद्धि हो जाती है।

ईश्वर क्या है, इसकी विवेचना योगदर्शन करता है। वह कहता है –

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (यो॰सू॰ १/२६)

योगदर्शन के पास तर्क है। वह कहता है ज्ञान जो तुम्हें मिला है वह बिना गुरु के नहीं मिल सकता। **'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।'** यहाँ कोई भी गुरु हो वह गुरु है। जो ज्ञानदाता है वह गुरु है। मनुष्य का बच्चा तो अपने आप उठ–बैठ भी नहीं सकता। न उसकी कोई बोली है, न भाषा है, न आहार है और न खानपान है। मनुष्य के बच्चे का कुछ भी अपना निश्चित् नहीं है इसलिए वह जो भी जानता है, बोलता है, सुनता है वा समझता है वह किसी के द्वारा सीखकर। मनुष्य की क्या भाषा है, इसका क्या कोई निश्चय हो सकता है ? मनुष्य का क्या आहार है, इसका कोई निश्चय हो सकता है ? जो भी भाषा सुनता है, समझता है, वह किसी के द्वारा ही सीखता है। जो लोग यह मानते हैं कि भाषा तो बाद में पैदा हुई और मनुष्य पहले तो उनसे यह पूछना चाहिए कि जिस समय भाषा नहीं थी उस समय मनुष्य सोचता था कि नहीं ? मनुष्य में मन था कि नहीं ? बुद्धि थी कि नहीं ? मन, बुद्धि तो बाद में पैदा नहीं हुए क्योंकि वे मनुष्य का अभिन्न अंग हैं। उनके बिना तो मनुष्य बन ही नहीं सकता। बिना भाषा के कोई व्यक्ति सोच सकता है क्या ? यह मनन करने की बात है। ज्ञान सदैव शब्दारूढ़ होता है, ज्ञान अर्थात्मक है। जब वह यहाँ से वहाँ जाएगा तो किसी पर सवार होकर जायेगा क्योंकि बिना सवारी के वह जा नहीं सकता, चाहे वह इंगित हो या किसी प्रकार का हो। उसे किसी सवारी की ज़रूरत है और उस सवारी का नाम है भाषा। पूर्व मीमांसा की यह प्रतिष्ठा है कि वह भाषा जब से सृष्टि है, जब से मानव है तभी से है। यह भाषा उसे मिली कहाँ से ? ईश्वर से। ईश्वर ही उसका मूल आधार है इसलिए योगदर्शन में उसी सिद्धान्त को व्यक्त करते

हुए—'**पूर्वेषामपि गुरुः**' अर्थात् जो पूर्व में हुए हैं उनका भी वह गुरु है। वेद का इस विषय में मन्त्र है जो हम प्रार्थना में बोलते हैं—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

(श्वेता. ६/१८)

अर्थात् जो सर्वप्रथम सृष्टि के आदि पुरुष ब्रह्मा को प्रकट करके उसमें वेद को यानी ज्ञान को भर देता है अर्थात् अवतरित कर देता है, वह ईश्वर है। एक और मन्त्र में है—

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्।

(श्वेता. ५/२)

अर्थात् पहले जो प्रथम प्रसूत कपिल ऋषि को ज्ञान से भर दिया। ज्ञान बिना शब्द के प्रदान नहीं हो सकता। ज्ञान के दो पहलू हैं—अनुभूति और प्रकाश। अनुभूति तो बिना शब्द के हो सकती है परन्तु अनुभूति की अभिव्यक्ति बिना शब्द के नहीं हो सकती इसीलिए इसका नाम भाषा है। भाषा का अभिप्राय होता है प्रकाशित करना। कोई भी प्रकाश दुनिया में ऐसा नहीं जो बिना माध्यम के हुआ हो। केवल ज्ञान का ही प्रकाश नहीं दुनिया में कोई भी प्रकाश बिना माध्यम के नहीं हो सकता। जैसे अग्नि नित्य है वैसे ही ईंधन भी। हम ईंधन के अभाव में अग्नि की कल्पना नहीं कर सकते। अग्नि को ईंधन से ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी प्रक्रिया से नहीं। इसी तरह माध्यम के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए वेद में यह बात बताई गई, पूर्व मीमांसा भी यही कहता है कि समस्त ज्ञान का भण्डार वह परमात्मा है। '**यथा पूर्वं अकल्पयत्**' जैसे सृष्टि अनादि और अनन्त है, सृष्टि कभी नई नहीं हुई, सृष्टि में कुछ भी नया नहीं। जैसे सृष्टि का प्रारम्भ होता है और हर एक सृष्टि के प्रारम्भ में '**भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' अर्थात् उस अनन्त से पुनः हिरण्यगर्भ की अभिव्यक्ति होती है, हिरण्यगर्भ से पुनः सृष्टि का क्रम चलता है, इसी रूप से हिरण्यगर्भ में वह ज्ञान प्रकट होता

है या वह परमेश्वर उसे ज्ञान से भर देता है। यहाँ पर योगदर्शन का सूत्र जो मैं आपको बता रहा हूँ–'पूर्वेषामपि गुरुः' कि सृष्टि के मूल में जो प्रथम पुरुष को ज्ञान से भर देता है वह ईश्वर है। **'पूर्वेषामपि'** के लिए गीता में जो संकेत किया गया है वह है–

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । (गीता १०/६)

अर्थात् सप्त ऋषियों, सनकादिकों तथा मनुओं का भी जो आदिगुरु है, वह ईश्वर है इसलिए उसे **'कृष्णं वन्दे जगद् गुरुं आदि गुरुं परमेश्वरं'** ऐसा कहते हैं। ईश्वर की विवेचना करते हुए पतंजलि ने दो बातें कही हैं। एक तो **'पूर्वेषामपि गुरुः'** अर्थात् जो पूर्व में पैदा हुए, उनका भी वही गुरु है और दूसरा **'कालेनानवच्छेदात्'** वह काल के द्वारा बाधित नहीं यानी कालातीत है। काल का प्रारम्भ वहीं से है जहाँ से सृष्टि का प्रारम्भ है। भगवान् ने गीता के आठवें अध्याय में कहा है–

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। (गीता ८/१८)

ब्रह्मा का दिन और ब्रह्मा की रात्रि से काल का प्रारम्भ होता है और वह काल से भी परे है। जिसमें काल की कल्पना नहीं इसलिए उसे महाकाल, अकाल या कालातीत कहते हैं। तो **'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** यह ईश्वर की परिभाषा है। इसके साथ ही ईश्वर के विषय में समझने की उससे भी एक महत्वपूर्ण और बात है–

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (यो॰सू॰ १/२५)

अर्थात् उसकी जो सर्वज्ञता है वह सातिशय नहीं है यानी किसी की अपेक्षा में नहीं है, वह निरतिशय है। सातिशय माने इसकी अपेक्षा यह अर्थात् सापेक्ष। वह निरपेक्ष है। ईश्वर की व्यापकता, ईश्वर की सर्वज्ञता निरपेक्ष है सापेक्ष नहीं। निरपेक्ष माने अतुल्य अर्थात् किसी की तुलना में वह बड़ा नहीं क्योंकि उसके बराबर भी कोई नहीं तो

तुलना किससे हो ? वेद में कहा है–

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । (श्वेता. ६/८)

न उसका कोई कार्य है न कारण है, न उससे कोई बड़ा है न छोटा है, न उसके कोई बराबर है तो अधिक कौन होगा? इसके लिए बताया गया है कि 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।' उसमें जो सर्वज्ञता का बीज है वह निरतिशय है यानी वह किसी की अपेक्षा सर्वज्ञ नहीं, सर्वज्ञ है ही वह। ये दो बातें ईश्वर के लिए कही गईं।

ईश्वर–प्रणिधान के लिए भी दो बातें बताई गईं। **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (यो॰सू॰ १/२७) उस ईश्वर का वाचक या नाम है ॐ। योगदर्शन में बताया गया **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**।(१/२८) अर्थात् ॐ का जाप और उसके अर्थ की भावना ही ईश्वर की उपासना है। यह नामानुसन्धान, नादयोग या शब्दयोग की बात कही है। योगियों ने राम और ॐ दोनों शब्दों को प्रणव रूप में स्वीकार किया है और उन्होंने यह कहा–**'प्रकृष्टरूपेण नवतिस्त्तौतीति प्रणवः'** अर्थात् जो विशेष रूप से परमात्मा की महिमा को अभिव्यक्त करे वह प्रणव है। यहाँ ईश्वर प्रणिधान में ईश्वर का सुमिरन, ईश्वर के अर्थ का यानी स्वरूप का चिन्तन और उसमें विशेष रूप से स्थिति। जब कारण में स्थिति हो जायेगी तो अपने आप कार्य का लय हो जाएगा। कारण मे लय होने का नाम ही समाधि है इसलिए योगदर्शन में कहा है–**'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'** (यो॰सू॰ २/४५) अर्थात् समाधि की सिद्धि ईश्वर प्रणिधान से हाती है। प्रणव के जाप से भी **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'** (यो॰सू॰ २/५२) आत्म प्रकाश के ऊपर जो आवरण है उसका क्षय हो जाता है और **'धारणासु च योग्यता मनसः'** (यो॰सू॰ २/५३) और मन में धारणा की भी योग्यता आ जाती है। वह कहीं भी किसी भी जगह है सैट हो सकता है। ये दो बातें प्रणव जाप और ईश्वर प्रणिधान से सम्बन्धित हो जाती हैं।

एक बात यहाँ याद रखें कि जिस समय हम ईश्वर की आराधना के रूप में बैठते हैं तो हम अपने हृदयगत भावों को तीन अवस्थाओं में पाते हैं। प्रथम–हमारा ईश्वर हमारे जैसा हमारे बहुत नज़दीक हो ऐसी हमारी भावना होती है। पश्चिम का एक दार्शनिक कहता है कि यदि आप किसी भैंसे से कहो कि तुम ईश्वर की कल्पना करो तो वह अपने से बहुत बड़े भैंसे के रूप में ही कल्पना करेगा क्योंकि हर एक प्राणी अपनी कल्पनानुसार सबसे महान् वस्तु को ईश्वर रूप में देखता है। श्रेष्ठतम, महानतम तत्त्व को ईश्वर शब्द प्रदान किया गया है। महानतम, सुन्दरतम और श्रेष्ठतम की माप हम अपने स्तर से ही करते हैं इसीलिए अवतार रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। तुलसीदास जी ने रामायण में उसी ईश्वर के लिए कहा **'कोटि मनोज लजावनहारे'**, ऐसे ही भगवान् कृष्ण के लिए श्रीमद्भागवत् में कहा गया है क्योंकि मनुष्य के सोचने का और ढंग है। वह अपने जैसा अपने निकट ईश्वर को देखना चाहता है। द्वितीय–इसके साथ वह यह भी स्वीकार करता है कि मेरे इष्ट से बड़ा और कोई दुनिया में है ही नहीं। यदि उसने यह स्वीकार कर लिया कि मेरे इष्ट से बड़ा कोई है तो फिर वह उसका इष्ट नहीं रह जाता। तृतीय–हमारा ही इष्ट सृष्टि का आदि है और वही सृष्टि का अन्त है। ये हमारी भावनायें अपनी साधना की दृढ़ता के लिए हैं क्योंकि ऐसी भावना यदि न हो तो हम ईश्वर की आराधना कर ही नहीं सकते।

हम कभी–कभी सोचते हैं कि देखो यह खेल क्या है? भक्तों की महिमा भी विचित्र है। भगवान् श्रीमद्भागवत में कहते हैं–**'अहं भक्त पराधीनो'** 'मैं तो भक्त के पराधीन हूँ', 'मैं तो असमर्थ हूँ', 'कुछ कर ही नहीं सकता'। मैं यह सोच रहा था कि अनन्त ब्रह्माण्ड का अधिपति परमात्मा जिसके यहाँ न कोई भक्त है न अभक्त है, तत्त्वतः जिसके सिवा कुछ है ही नहीं, वह कहता है–'मैं भक्त के अधीन हूँ', 'भक्त मेरी आत्मा है'। भक्त अपनी भावना के अनुसार ही उस परम

तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि जो अनन्त ब्रह्माण्डों का अधिपति है वह कौशल्या की गोद में खेल रहा है। यह भक्त की भावात्मक महिमा नहीं तो और क्या है? यह ईश्वर उपासना की प्रक्रिया है। ईश्वर हमारे जैसा हमारा अपना है। ईश्वर हमसे बहुंत दूर है, ऐसी बात नहीं। ईश्वर हमारा विजातीय नहीं सजातीय है। यदि ईश्वर विजातीय होता तो उससे हमारा कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता था। सम्बन्ध होता तो नित्य नही होता। तुलसीदास जी ने एक दोहे में लिखा है–

जल पय सरिस बिकाई, देखो प्रीति की रीति भली ।
बिलग होई रस जाई, कपट खटाई परत ही ।।

कहते हैं पानी दूध में डाल दो तो पानी दूध के भाव बिकता है, कितना प्यार है आपस में! दूध अपना रूप भी उसे दे देता है और पानी दूध की कीमत भी ले लेता है लेकिन उनका सम्बन्ध नित्य नहीं है। ज़रा सी खटाई डाल दो, दूध अलग हो जाएगा पानी अलग हो जाएगा। दूध–पानी दोनों सजातीय नहीं हैं इसलिए उनका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है लेकिन पानी और पानी का कभी सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। ईश्वर हमारा सजातीय है। सजातीय माने जैसे आग–आग का, पानी–पानी का सम्बन्ध। गुरु नानकदेव ने कहा है–

नानक लीन भयो गोबिन्द संग, ज्यों पानी बिच पानी।

यही बात वेद में बताई गई–

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

(मुण्डक. ३/२/८)

इसी मन्त्र का अनुवाद रामायण में किया गया है–

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई । होई अचल जिमि जिब हरि पाई ।।

नदियों का जल समुद्र में जाकर स्थिर हो जाता है। कैसे? जैसे जीव परमात्मा को पाकर स्थिर हो जाता है। जैसे नदियों के जल

का समुद्र के जल से सजातीय सम्बन्ध है, जैसे सूर्य की किरणें सूर्य में लीन हो जाती हैं ऐसे ही जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे अग्नि का प्रज्वलित अंश अग्नि में लीन हो जाता है ऐसे ही ईश्वर में जीव लीन हो जाता है, ऐसा उपनिषदों में कहा है। जैसे घड़े के टूट जाने पर घड़े का आकाश महाकाश में लीन हो जाता है, उसका भेद मिट जाता है, ऐसे ही जीव ईश्वर से मिलकर अभिन्न हो जाता है। जैसे किसी गोले में किसी यन्त्र से भरी हुई वायु गोले के टूट जाने पर महावायु में लीन हो जाती है ऐसे ही जीव ईश्वर में लीन हो जाता है। ये सारी उपमायें वेद में दी गई हैं, इस प्रकार की भावना ईश्वर के प्रति बनाकर के ही ईश्वर में पूर्ण समर्पण की स्थिति प्राप्त होगी। इसलिए साधना करते समय जब भी बैठें तो पहले अपने सीमित अहं को उस अनन्त में समर्पित करने की कोशिश करें। स्वयं को ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर तक देखें। इसके लिए दो प्रकार की प्रक्रियायें हैं ।

जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है, यही अपने पिण्ड में भी है। ब्रह्माण्ड जिसे हम कहते हैं वह सूर्यमण्डल से भी परे है। सूर्यमण्डल अग्नि तत्त्व का प्रकाश है, अग्नि तत्त्व से परे वायु तत्त्व है और वायु तत्त्व की गति जिसमें होती है वह मूल आधार आकाश तत्त्व है। आकाश ऊर्जा के अतिरिक्त कुछ नहीं। आकाश तत्त्व जिस संकल्प से अभिव्यक्त हुआ है वह मनस तत्त्व जिसमें प्रकट हुआ है वह अहं है और मनस तत्त्व से भी परे है। यही अहं विराट् का अहं कहा जाता है और उस विराट् के अहं का आविर्भाव जिसमें होता है वह महतत्त्व है बुद्धितत्त्व। यह महतत्त्व विराट् की जननी है और यह महतत्त्व जिसमें प्रकट हुआ है उसका मूल आधार गुणात्मिका शक्ति प्रकृति और ज्ञानात्मक सत्ता पुरुष है। गुणात्मिका शक्ति प्रकृति और ज्ञानात्मक सत्ता पुरुष, इन दोनों का जो व्यक्त रूप है, उसे ब्रह्म कहते हैं। कहने का अभिप्राय ब्रह्म से ज्ञानात्मक और गुणात्मक दो

प्रकार की शक्तियाँ, दोनों के संयोग से महतत्त्व की अभिव्यक्ति और महतत्त्व में अहं का स्फुरण। इसी अहं को कहते हैं विराट् या हिरण्यगर्भ और इस विराट् में संकल्प और संकल्प से क्रियात्मक शक्ति का आविर्भाव। क्रियात्मक शक्ति में आकाश, आकाश में गति जिसे वायु कहते हैं। वायु और आकाश के युक्त होने से भिन्न–भिन्न बवण्डर (वायु गोला) वर्लपूल बन जाते हैं। इन वर्लपूल का एक महान् पिण्ड बनता है और उस पिण्ड के तीन खण्ड होते हैं, उनमें से एक सूर्य है, एक पृथ्वी तथा बीच का अन्तरिक्ष बन जाता है। इस आकाश में ऐसे अनन्त वर्लपूल होते हैं जिनसे अनन्त सूर्य और पृथ्वी बनते रहते हैं जिनकी कोई गणना नहीं। इस पृथ्वी के एक अंश में प्राणी जगत् है, उन प्राणियों में किंचित् मात्र अपना स्थान है। ब्रह्म से लेकर अपने तक देखें तो एक सीधी रेखा दिखाई देगी। जैसे ऊपर से चिन्तन करते हुए नीचे आयें वैसे ही नीचे से उठाकर के यानी पहले अपने आपको पृथ्वी पर देखें, पृथ्वी से ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष से ऊपर आकाश, उससे ऊपर अहं तत्त्व जिसे विराट् कहते हैं और इस अहं का लय कर दें उस महतत्त्व में जिससे अहं पैदा हुआ है और महतत्त्व को लय कर दें गुणात्मिका और ज्ञानात्मिका सत्ता में और निश्चिन्त होकर बैठ जाएँ। इसको लययोग कहते हैं। लय की प्रक्रिया है नीचे से ऊपर अथवा कार्य को कारण में लीन करना। चेतन का वा दिव्यता का प्रवाह ऊपर से नीचे तक आ रहा है, उसी क्रम में नीचे से चिन्तन करते हुए ऊपर ले जाना और उसमें लीन कर देना, यह बहुत बड़ी साधना है। जब साधना में बैठें तो वहाँ से लेकर यहाँ तक देखें कि अखण्ड प्रवाह चल रहा है, कहीं अवरोध नहीं है। अखण्ड प्रवाह से अपने आपको परिपूर्ण देखें और अभिन्न देखें। जब इस प्रकार अपने को देखेंगे फिर अपने आपको उसमें आधान करेंगे, यही पूर्ण समर्पण होगा। पूर्ण समर्पण में अपने आप समाधि का अनुभव होने लगेगा। यही समाधि है और यही ईश्वर

प्रणिधान है। बात थोड़ी सी है, सीधी सी लेकिन करने में कठिन लगती है क्योंकि यह सीमित अहं इतना तगड़ा है कि आगे बढ़ने नहीं देता। ये सारी ईश्वर प्रणिधान की प्रक्रियायें हैं। योगदर्शन कहता है–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । (यो॰सू॰ २/४५)

अर्थात् समाधि की सिद्धि ईश्वर प्रणिधान से होती है। इसके लिए और कुछ नहीं करना। जीवन को उन्नत करने के लिए ईश्वर प्रणिधान से श्रेष्ठ कोई साधना नहीं है। शेष जितनी साधनायें हैं मैने सब स्वयं की हैं, करके देखी हैं, कहीं भी स्थिरता नहीं मिलती। स्थिरता तो अन्त में ईश्वर प्रणिधान में ही मिलती है ।

कुछ लोग प्रश्न कर देते हैं कि फिर पहले ईश्वर प्रणिधान ही क्यों न किया जाए? क्योंकि यह कह देना कि सब कुछ ईश्वर का है बहुत सरल है परन्तु यह स्वीकार कर लेना कि सब कुछ ईश्वर का है बहुत कठिन है। पहले तप, तप के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद ही ईश्वर प्रणिधान हो सकता है। तप, स्वाध्याय से पूर्व ईश्वर प्रणिधान हो ही नहीं सकता क्योंकि जब तक अहं जीवित है तब तक समर्पण कैसे होगा? बहुत मुश्किल है। अपने जीवन की पूर्ण जिम्मेवारी ईश्वर पर थोड़ी देर के क़िए ही फेंककर देख लो, मुश्किल हो जाती है। स्वामी रामतीर्थ जब संन्यास लेने के लिए चले तो उनके साथ उनका एक भान्जा और उनकी स्त्री थी। बच्चे घर पर ही छोड़ आये थे। टेहरी जो गढ़वाल में है वहाँ जाकर वे उतरे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने भान्जे से जो उनका शिष्य भी था, पूछा, क्यों भई! कितने पैसे हैं अपने पास? उन दिनों चाँदी के सिक्के होते थे नोट तो चले नहीं थे। उनके पास चाँदी के रुपये थे। उसने कहा सौ रुपया है। स्वामी राम ने पूछा, तुम लोग संन्यास लेने चले हो राम के भरोसे या रुपये के भरोसे? उन्होंने कहा, अभी जब तुम्हें रुपये का भरोसा है इसलिए तुम संन्यास के योग्य नहीं हो। शिष्य ने पूछा,

क्या करना चाहिए? उन्होंने कहा, क्या राम का भरोसा करने वाला रुपये का भरोसा करेगा? यह रुपया गंगा जी को समर्पित कर दो। शिष्य ने थैली उठाई और गंगा जी में फेंक दी। स्वामी राम बोले, अब बैठो भजन करो और देखो राम का चमत्कार, तीनों बैठ गये। प्रातः से सायंकाल का समय हो गया। पैसा तो पास रहा ही नहीं था इसलिए खाने–पीने कहाँ जायें? सायंकाल टेहरी महाराज घूमने निकले। वहाँ देखा तीन मूर्तियाँ ध्यान लगाए बैठी थी। वह सोचने लगे कौन हैं ये। उन्होंने अपने मन्त्री से कहा, जाओ पूछो, कौन हैं ये लोग? स्वामी ज़ी ध्यान में बैठे थे, स्त्री उनकी बगल में बैठी थी और शिष्य उनकी देख–भाल कर रहा था यानी जागरुक था। मन्त्री ने आकर शिष्य से पूछा कि आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं? उसने कहा, यह गोस्वामी तीर्थराम हैं, लाहौर कालिज में प्रौफेसर थे, अब त्यागपत्र देकर संन्यास लेने चले हैं। मन्त्री ने आकर सारी बात टेहरी महाराज को सुना दी। टेहरी महाराज ने जैसे ही सुना कि यह प्रौफेसर तीर्थराम हैं, वह स्वयं आया और आकर उनके चरणों में गिर गया क्योंकि वह भी उसी कालिज में पढ़ा था। कहने लगा, आप मेरे साथ चलिए, आप यहाँ नहीं रह सकते। टेहरी महाराज उन्हें महल में ले गये, वहाँ उनके रहने के लिए पूरी व्यवस्था की। स्वामी रामतीर्थ अपने शिष्य से बोले, जब तक हमें सौ रुपये का भरोसा था तब तक तो उसने अपनी कृपा को बीच में ही रोक रखा था। सौ रुपये का भरोसा जब चला गया तो राम की कृपा प्रवाहित होकर पहुँच गई। वहीं से फिर वे आगे गंगोतरी चले गये, संन्यास तो बाद में लिया। पहले उनका नाम तीर्थराम था, उसको उलटकर उन्होंने बाद में रामतीर्थ कर दिया। वहाँ से लोटकर जब वापिस आये तो टेहरी महाराज के पास ही ठहरे। टेहरी महाराज ने ही उन्हें विश्वधर्म सम्मेलन में टोकियो भेजा। उन्हीं के सहयोग से उन्होंने सारी दुनिया में प्रचार किया। मेरे कहने का अभिप्राय है कि साधन का सार ईश्वर

प्रणिधान है और सारी साधनाओं का प्रयोजन स्वयं को समर्पित करने की तैयारी में है। कबीर ने कहा है इसमें अपना वध करना पड़ता है। वध करके ही फिर कोई आगे बढता है। वह कहते हैं–

सीस उतारे भुई धरे तापर राखे पांव ।
इश्क चमन के बीच में ऐसे हो तो आव ।।

इसमें शीश काटकर भूमि पर रखने का अभिप्राय है कि अपना अहम् उतार करके पहले मिट्टी में मिला दो फिर उस पर अपना पाँव रखकर परमात्मा की शरण में जाओ। गीता में भगवान् ने सातवें अध्याय में स्पष्ट शब्दों में कहा है–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता ७/१४)

अर्थात् 'दुनिया में चाहे तुम कितने ही खेल–कूद करते रहो, जब तक मेरी शरण में नहीं आते, मेरी माया से तुम पार नहीं हो सकते'। भगवान् कह रहे हैं कि मेरी त्रिगुणात्मिका माया से पार होने का रास्ता केवल एक ही है कि मेरी शरण में आ जाओ इसलिए ईश्वर प्रणिधान से श्रेष्ठ कोई साधन नहीं है ।

हरि ॐ तत्सत्



T

आचार और व्यवहार

व्यक्ति का जीवन दो प्रकार की विधाओं में सक्रिय रहता है। एक उसकी स्वयं से सम्बन्धित विधा और दूसरी समाज से सम्बन्धित विधा। स्वयं से सम्बन्धित विधा को आचार कहते हैं और समाज से सम्बन्धित विधा को व्यवहार कहते हैं। आचार के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत करता है, अपने में शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता का सृजन करता है और व्यवहार के द्वारा समाज के लोगों के साथ उसका प्रयोग करता है। यहाँ पर जो मैं आप लोगों को तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग बता रहा हूँ, वह व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है। एक बात यहाँ ध्यान रखनी है कि जो क्रिया हम अपने व्यक्तिगत विकास के लिए कर रहे हैं उसका भी प्रभाव सामाजिक वातावरण पर पड़ता है क्योंकि हम जिस जगह पर बैठे हुए हैं चाहे काष्ठ मौन होकर ही बैठे हों, वहाँ की हमारी उपस्थिति, हमारा अस्तित्व ही उस क्षेत्र में विशेष प्रकार के वातावरण का निर्माण करने में कारण बन जाता है क्योंकि हमारी जो आन्तरिक शक्ति है, आन्तरिक चेतना है और तत्सम्बन्धित जो भाव हैं, वे स्वभावतः सदैव अपने से विशेष प्रकार की लहर का निर्माण करते रहते हैं। वह लहर जहाँ हम होते हैं उस वातावरण में फैलती रहती है और उसको प्रभावित करती रहती है। इसमें इसकी कोई ज़रूरत नहीं कि हम लोगों से बोल रहे हैं, व्यवहार कर रहे हैं, बात कर रहे हैं, मिल रहे हैं या कोई काम कर रहे हैं, कुछ बना रहे हैं या बिगाड़ रहे हैं, हमारी उपस्थिति मात्र ही उस भावात्मक लहर का निर्माण करने में कारण

हो जाती है और वह एक वातावरण का निर्माण करती है इसलिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तर पर हमारा व्यक्तिगत जीवन अपनी उपस्थिति मात्र से समाज में उत्तमता और निकृष्टता का सृजन करता रहता है। यह मनुष्य के लिए बहुत ही सावधानी से समझने वाली बात है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं और कहते भी हैं कि वे लोग जो व्यवहार में नहीं बरतते, उनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति कुछ अर्थ नहीं रखती परन्तु यह धारणा गलत है। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि व्यक्ति की उपस्थिति मात्र वहाँ के वातावरण में एक विशेष प्रकार के तत्त्व का निर्माण करने में कारण बन जाता है क्योंकि जिस स्थिति में जिस गुण से प्रभावित व्यक्ति का जीवन होता है उस प्रकार के वातावरण का निर्माण होता है। यदि उत्तम स्थिति में है, सतोगुण से प्रभावित उसका जीवन है तो मौन बैठे हुए भी वह अपने पास में सात्त्विक वातावरण का निर्माण कर लेगा और ऐसे व्यक्ति के सन्निकट जाने वाले लोग भी सात्त्विकता की अनुभूति करने लगेंगे। यदि ऐसी स्थिति नहीं है और वह व्यक्ति तमोगुणी है या रजोगुणी तो वह मौन बैठा हुआ भी तमोगुणी या रजोगुणी वातावरण फैला देगा। वह कुछ न बोले, कुछ न कहे तब भी उसके पास जाने मात्र से दूसरे लोग उसके राजसिक और तामसिक संस्कार उससे ग्रहण कर लेंगे। इसलिए यह कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्ति का सक्रिय होना ही समाज में विशेष प्रभाव को उत्पन्न करता है।

एक बात और समझने की है कि इस जगत् में जो कुछ स्थूल है वह इतना प्रबल और सक्षम नहीं जितना जो कुछ सूक्ष्म है। स्थूल सदैव सीमित होता है और सूक्ष्म सदैव व्यापक इसलिए स्थूल का प्रभाव भी सीमित होगा और सूक्ष्म का प्रभाव उतना ही व्यापक। हम स्थूल शरीर से उतनी मात्रा में किसी का हित–अहित नहीं कर सकते जितनी मात्रा में हम सूक्ष्म संकल्प, सूक्ष्म भावनाओं से इस विश्व का

T

हित व अहित कर सकते है। स्थूल क्रियाओं में शरीर की शक्ति सीमित है इसलिए प्रभाव भी सीमित है लेकिल सूक्ष्म जीवन की क्रियाओं की शक्ति अनन्त है इसलिए सूक्ष्म क्रियाओं का प्रभाव भी अनन्त होगा। ये दो बातें जब व्यक्ति समझ लेता है तो उसके दिमाग में यह बात आ जाती है कि उसका व्यक्तिगत जीवन जिसे मैंने आचार कहा है उसका जितना प्रभाव समाज पर पड़ता है उतना उसके व्यवहारिक जीवन का जो वह समाज के साथ बरत पाता है, शायद नहीं पड़ता होगा। इसलिए मनीषियों ने व्यक्ति को सन्देश दिया कि पहले अपना कल्याण करो और फिर सुन्दर समाज का निर्माण होगा। जो अपना कल्याण नहीं किया वह दूसरों का क्या करेगा? जो स्वयं नहीं पढ़ा है वह दूसरों को क्या पढ़ायेगा? जो स्वयं नहीं खड़ा वह दूसरों को कैसे खड़ा करेगा? जो स्वयं तैरना नहीं जानता वह दूसरों को क्या तैरना सिखायेगा? यानी व्यक्ति वही समाज को दे सकता है जो उसके पास है। यदि स्वयं के पास कुछ नहीं है तो समाज को क्या देगा? यदि हम समाज से अलग रहते हैं, समाज के साथ किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करते तब भी हम समाज को कुछ दे रहे हैं और कुछ ले रहे हैं इसलिए हमें अपने आचार को शुद्ध, सात्त्विक और उन्नतशील बनाना चाहिए जिससे जीवन का विकास होता हो। क्रियायोग यह नहीं सिखाता कि व्यक्ति समाज के साथ कैसे बरते, यह उसका विषय नहीं, उसका विषय है कि व्यक्ति अपने आपको कैसे उन्नत करे।

यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस अभ्यास को हम क्रियायोग में अपनाते हैं, असका यह प्रयोजन नहीं है कि तुम्हारा व्यवहार कैसा है। वह यह सिखा रहा है कि यदि तुम्हारा व्यक्तिगत जीवन शुद्ध और सात्त्विक होगा तो समाज के साथ अशुद्ध, तामसिक और निम्न स्तर का व्यवहार नहीं करेगा। जिसका जीवन उन्नत नहीं है, वह समाज के साथ कभी उन्नत व्यवहार नहीं कर सकता। यदि

T

चित्त ही शुद्ध नहीं तो वह समाज के साथ शुद्ध व्यवहार कैसे करेगा? समाज के साथ हम वही व्यवहार करते हैं जैसा हमारा स्तर होता है। योगदर्शन को विशेष रूप से व्यावहारिक दर्शन इसलिए मानते हैं कि यह व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाने की प्रक्रिया बताता है। क्रियायोग की बातें जो मैं आप लोगों को बता रहा हूँ वे आपके व्यवहार से नहीं आचार से सम्बन्धित हैं।

एक बात यहाँ और समझ लेनी चाहिए कि हम जो आचरण अपनी उन्नति के लिए करते हैं, उसका भी समाज पर प्रभाव पड़ता है चाहे हम चाहते हों या ना चाहते हों। उसी तरह से जिस समाज में हम रहते हैं चाहे हम उससे अलग रहें, दूर रहें या छुपकर रहें, उस समाज की गतिविधियों का भी हम पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए साधक के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा अन्य सदग्रन्थों में शुद्ध, पवित्र, उत्तम वातावरण में रहने की बात बताई गई है जहाँ साधना में किसी प्रकार का विक्षेप न आए या व्यवधान न पड़े क्योंकि साधना का सम्बन्ध आहार–व्यवहार से है। कोई भी व्यक्ति समाज से बिल्कुल सम्बन्ध विच्छेद करके या अपने को अलग करके किसी भी प्रकार की साधना नहीं कर सकता क्योंकि शरीर रक्षार्थ तो उसे अन्न–जल चाहिए ही। जो लोग हिमालय की चोटी या कन्द्राओं में रहते हैं, चाहे कन्द–मूल खाकर ही अपनी साधना में प्रवृत्त हों फिर भी वहाँ पर समाज का वातावरण यदा–कदा पहुँच ही जाता है।

एक महात्मा हुए हैं जिनका नाम था स्वामी रामानन्द जी। विद्वान् तो नहीं परन्तु बड़े अच्छे सरल सन्त थे। मैं जब गंगोतरी गया तो उनसे मिला, उनके दर्शन किये। उस समय उनकी अवस्था ८५ वर्ष की थी। मैंने एक पुस्तक में उनके सम्बन्ध में पढ़ा था कि वह ११० वर्ष के हैं। जब उनसे बातचीत होने लगी तो उन्होंने बतांया कि पुस्तक लिखने वाले ने गलत लिखा है। ऐसी बात नहीं है, मेरी अवस्था ८५ वर्ष की है। उनका मेरे से काफी प्रेम हो गया और

T

आना–जाना भी हो गया। अभी पिछले दिनों मैंने सुना कि उनके साथ कोई दुर्घटना हो गई है। उनका बहुत वर्षों से यह नियम था कि वह गंगोतरी से नीचे नहीं आते थे। गंगोतरी में करीब १० फुट बर्फ पड़ती है और वह बर्फ में भी वहीं रहते थे। बारह मास वहीं रहते, नीचे उतरते ही नहीं थे। नंगे रहते थे, वस्त्र भी नहीं पहनते थे। उनके शरीर की खाल गैंड़े की खाल की तरह हो गई थी। उस समय उनकी आयु एक सौ दो वर्ष की होगी। अभी एक सन्त ने बताया कि कोई व्यक्ति उनके पास आया और उनका शिष्य बन गया तथा उनके पास ही रहने लगा। गर्मियों में लोग वहाँ यात्रा के लिए जाते तो कोई एक वा दो रुपया माथा टेक जाते। इस तरह एक–एक, दो–दो रुपये से पैंतीस हज़ार रुपया इकट्ठा हो गया। उनका यह स्वभाव था कि वह शक्कर का प्रसाद देते थे। शिष्य जो उनके पास रहता था, उसने यह सब देख लिया। एक दिन उस शिष्य ने उन्हें मारकर, हाथ–पाँव तोड़कर एक पेटी में बन्द कर दिया और रुपया लेकर दौड़ गया। काली कमली वाले के यहाँ से उनके लिए भोजन आता था। जब रोटी लाने वाला वहाँ पहुँचा तो देखा महात्माजी वहाँ नहीं थे। वह इधर–उधर देखने लगा। इतने में उसे ज़रा–सी हाय–हाय की आवाज़ कहीं से आई। उसने पेटी खोली और देखा कि महात्मा जी के हाथ–पाँव सब टूटे हुए थे परन्तु उन्हें थोड़ा–थोड़ा श्वास आ रहा था। वह उन्हें लेकर तुरन्त नीचे आया। बाद में उनकी चिकित्सा हुई और वह बच गये।

यह मैं समाज की बात आपको बता रहा हूँ कि वह व्यक्ति जो सब कुछ छोड़कर हिमालय की चोटी गंगोतरी में बिल्कुल नग्न अवस्था में रहता था लेकिन वहाँ भी संसार पहुँच गया। मेरे कहने का अभिप्राय कि संसार का प्रभाव तो किसी भी अवस्था में आप रहो आप पर पड़ेगा। उनके दुःख का कारण तो बना धन। उनके पास कुछ न होता तो उन्हें कौन मारता? वह नीचे नहीं उतरते थे, वहीं

पर पड़े रहते थे, अगर वह रुपया खर्च करते रहते तो यह गति न होती परन्तु पूर्ण असंगता है बड़ी कठिन बात। कभी–कभी मैं विनय–पत्रिका पढ़ता हूँ तो देखता हूँ गोस्वामीजी ने इस विषय में बड़ी–बड़ी ऊँची बातें कही हैं। आचार्य शंकर ने कहा है–

करतल भिक्षा तरुतर बासा, तदपि न मुंचति आशा-पाश ।

अर्थात् स्थिति यह है कि हाथ में तो भिक्षा लेकर खाते हैं और वृक्ष के नीचे रह लेते हैं लेकिन ऐसी स्थिति में भी आशा की पाशी छूटती नहीं। यथार्थ ज्ञान के बिना आप कुछ भी करते रहो, चाहे आप सर बाँधकर ऊपर लटको लेकिन उससे कुछ नहीं होने का। यथार्थ ज्ञान हो गया तो आप दिल्ली के चाँदनी चौक में बैठ जाओ कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में लिखा है–

तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै ।

अर्थात् जब तक 'मैं' और 'मेरा' नहीं जाता तब तक जीव सुख नहीं पा सकता। 'मैं' और 'मेरा' तब जायेगा जब यथार्थ ज्ञान होगा। यथार्थ ज्ञान होता है साधन से। जिसके पास ज्ञान है उसके जीवन से दूसरे को दिशा, प्रकाश और आत्मबल प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर जो मैं क्रियायोग के विषय में आपको बता रहा हूँ वह व्यक्ति के जीवन को समुन्नत करने का यत्न बताता है और इसका मुख्य प्रयोजन है चित्त शुद्धि के साथ पूर्ण ईश्वर समर्पण से यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि। सर्वरूप में परमात्मा है यह समझाना, बताना सरल है लेकिन समझना कठिन है। तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका में कहा है–

सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै ।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित भव दारुन बिपति सतावै ।।

अर्थात् सुनता हूँ, विचारता हूँ, दूसरों को समझा भी देता हूँ लेकिन वह स्थिति नहीं आती क्योंकि अनुभव के बिना अर्थात् यथार्थ ज्ञान के बिना संसार की महान् विपत्तियाँ दुःख देती ही रहेंगी। कहने का

T

अभिप्राय स्वयं को सुव्यवस्थित तथा समुन्नत बनाने के लिए साधन में प्रवृत्त होना चाहिए। लोक कल्याण तो उसके बाद की बात है। मेरी यह राय है कि जिस समय आप साधन में प्रवृत्त हुए उसी समय से लोक कल्याण प्रारम्भ हो जाता है। आप एक घण्टा भी बैठकर रामायण का पाठ कर रहे हैं तो आपके द्वारा लोक–कल्याण हो रहा है क्योंकि आप जिन शब्दों का इस समय प्रयोग कर रहे हैं वे पूरे विश्व में व्याप्त हो रहे हैं। आपके द्वारा एक प्रकार की सात्त्विकता का निर्माण हो रहा है। आप चाहे शब्द को धीरे पढ़ते हैं या ज़ोर से, उसका कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि जिस समय आपने शब्द उच्चारण किया तो वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो गया क्योंकि मन व्यापक है, विभु है। जिस समय आप सात्त्विक रास्ते पर चले उसी समय से आप तो लोक–कल्याण कर रहे हैं। आप एक घण्टे बैठकर ध्यान कर रहे हैं। ध्यान तो आप कर रहे हैं चित्त को एकाग्र करने के लिए परन्तु ध्यान करके आप संसार की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं और उस सेवा से न आप परिचित हैं और न संसार परिचित है। मज़ेदार बात यह कि आप एक घण्टे भजन में लगाए, इससे आपने अपना कल्याण तो किया लेकिन वायुमण्डल में जो वातावरण उत्पन्न किया, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि आप अग्नि में हज़ार मन घी डालकर भी नहीं कर सकते। महिमा इसमें यह है कि आपने यह साधन अपने लिए किया और उससे समाज में सतोगुण का निर्माण हुआ। आप समाज का बहुत बड़ा हित कर रहे हैं लेकिन अहं उसमें नहीं है कि आपने दूसरे के लिए भी कुछ किया है। वैसे दूसरे के लिए आप थोड़ा–सा भी हित का काम करते हैं तो सोचते हैं कि हमने बहुत बड़ा काम किया है और उससे अहं की जागृति होती है। स्थूल स्तर पर जब आप कोई सत्कर्म करते हैं तो उसमें अहं के जाग्रत होने की गुंजाइश रहती है लेकिन सूक्ष्म स्तर पर जब आप अपने निर्माण के लिए कोई सत्कर्म करते हैं, उस समय भी समाज

का हित होता है लेकिन अहं के जागरूक होने की गुंजायश नहीं होती। कितना बड़ा लाभ है इससे! इसलिए हमारे शास्त्रों में बताया गया—**आचार्यवान् पूरुषो वेदः।** वेद में कई जगह आया है कि वह व्यक्ति महान् नहीं जो सबसे ज्ञानी है अपितु बड़ा वह है जो सदाचारी है। भगवान् बुद्ध का कथन है कि मैं उसे ब्राह्मण नहीं मानता जो बहुत पुस्तकें पढ़ रखा है, मैं ब्राह्मण उसे मानता हूँ जो सदाचारी है, लोक—हित में काम करता है, जो अपने पवित्र जीवन से अपने अगल—बगल के वातावरण को पवित्र बनाता है। ज्ञानयोग, नादयोग, ध्यानयोग और क्रियायोग, ये सब स्वयं के निर्माण की क्रियायें हैं। इसमें जो सदाचार की बात बताई गई है उससे बिना जाने भी समाज का बहुत बड़ा हित होता है।

जिस समय हम ईश्वर प्रणिधान की सिद्धि करते हैं उस अवस्था में हम स्वयं को अनन्त में लय करते हैं और अनन्त की अभिव्यक्ति ही सारा विश्व है इसलिए उस समय हम स्वयं को विश्व में एक करते हैं। गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

(गीता ६/३०)

अर्थात् "जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझ वासुदेव को देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं हूँ और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता।" उस समय हमारी सात्त्विकता विश्व की सात्त्विकता, हमारा अन्तःकरण विश्व का अन्तःकरण, हमारा बोध विश्व का बोध, हमारी भक्ति विश्व की भक्ति तथा हमारा प्रेम विश्व का प्रेम होता है। इसलिए तुलसीदासजी ने अपनी रामायण के प्रारम्भ में लिखा है —

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।।

"यह जो मैं ग्रन्थ लिख रहा हूँ किसी दूसरे के लिए नहीं अपने अन्तः—

करण को शुद्ध करने के लिए लिख रहा हूँ।" वह कहते हैं–

भाषाबद्ध करबि मैं सोई । मोरें मन प्रबोध जेहिं होई ।।

आज उससे भारत के चालीस करोड़ व्यक्ति आनन्द ले रहे हैं, सुख ले रहे हैं। एक पश्चिम के विद्वान् ने कहा है कि दुनिया में जो सबसे अधिक पढ़े जाने वाला ग्रन्थ है वह बाईबिल के बाद तुलसी की रामायण है क्योंकि जिस स्तर पर होकर तुलसी ने रामायण की रचना की उस स्तर पर तुलसी का अन्तःकरण विश्व का अन्तःकरण था। ईश्वर प्रणिधान की सिद्धि के पश्चात यानी पूर्णरूप से ईश्वर को समर्पित हो जाने के पश्चात फिर उन्होंने ग्रन्थ की रचना की। उस समय उनका जीवन प्रभुमय था इसलिए वह विश्व के अन्तःकरण को शान्ति प्रदान करने का साधन बन गया ।

यह बात हमेशा याद रखो कि जो कार्य आप जीविका कमाने के लिए करते हैं उसका भी समाज के साथ सम्बन्ध है और उसका भी प्रभाव पड़ता है लेकिन वह बाह्य जगत से है परन्तु जो कार्य आप अपने जीवन को उन्नत करने के लिए कर रहें हैं वह आचार है और उसके द्वारा आप समाज की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये तीनों स्वयं को समुन्नत बनाने के साधन हैं। गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान् ने कहा है–

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । (गीता १८/५)

अर्थात् यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं, निःसन्देह इन्हें करना ही कर्त्तव्य है। इन्हीं को क्रियायोग में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप में कहा गया है। ये यहाँ चित्त शुद्धि और प्रभु प्राप्ति के साधन हैं, इनसे श्रेष्ठ साधन की कल्पना नहीं की जा सकती।

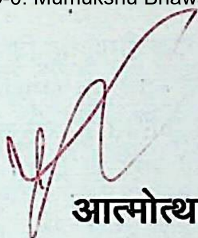
साधना के क्षेत्र में जितनी बातें आप लोगों को बताई गई हैं, उन पर सूक्ष्मता से मनन करें। साधन का सम्बन्ध स्थूल शरीर से उतना नहीं है जितना आपके सूक्ष्म शरीर से है। यदि आप बौद्धिक जगत्

में सजग हैं तो आप जो कुछ भी कर रहे हैं वह आपकी साधना बन जाएगी। यदि बौद्धिक जगत् में आप सजग नहीं तो उस अवस्था में बड़ी से बड़ी क्रिया भी साधना नहीं बन सकती, आपको उन्नत करने में सहायक नहीं हो सकती। ये बातें सदैव चिन्तन करते हुए आप लोग जिस स्थिति में हैं उससे आगे बढ़ने का, उठने का प्रयास करें। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये जो तीन बातें आपको बताई गई हैं, उन पर खूब मनन करते हुए अपने आपको उसमें लगायें। ये तीनों क्रियायें जब आपके जीवन में रहेंगी तो आप कभी भी मिली हुई शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे। ईश्वरीय शक्ति का सदुपयोग करते हुए, सदाचार से आप समाज में भी शुद्ध, सात्त्विक और उत्तम वातावरण का निर्माण करने में सक्षम होंगे।

हरि ॐ तत्सत्



T



आत्मोत्थान : समाज कल्याण

मेरी ऐसी राय है कि व्यक्ति के जीवन के दो पहलू हैं–एक उसका अपना निज से सम्बन्धित और दूसरा समाज से सम्बन्धित। जैसे मैं कल भी बता रहा था कि जो व्यक्ति अपने स्वयं के विकास में पूर्णरूपेण प्रवृत्त नहीं हुआ और स्वयं के विकास की व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया, वह समाज के विकास में उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास नहीं है क्योंकि समाज को व्यक्ति वही कुछ दे सकता है जो उसके पास है। अविकसित, अयोग्य, अबोध, असमर्थ और अबुद्ध व्यक्ति न तो समाज को बोध दे सकता है, न किसी प्रकार का सहयोग दे सकता है और न शक्ति ही दे सकता है यानी ऐसा व्यक्ति कुछ नहीं दे सकता। इसलिए भारतीय विचारधारा में स्वयं के उत्थान की बात मूल रूप में स्वीकार की गई है। कुछ विद्वानों का कहना है कि भारतीय जीवन पद्धति आत्म केन्द्रित है क्योंकि इसका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष व्यक्तिगत उपलब्धि है, सामाजिक उपलब्धि नहीं है। व्यक्ति का मोक्ष होता है सारे समाज का मोक्ष नहीं होता। विद्वानों की यह राय है कि व्यक्तिगत मोक्ष जिस संस्कृति, सभ्यता और धर्म की साधना का अन्तिम ध्येय है, उस संस्कृति, सभ्यता और धर्म की अन्तिम साधना को हम लोक–हितकारी नहीं मान सकते क्योंकि उसका सारा प्रयत्न, लक्ष्य आत्म केन्द्रित है, वह समाज केन्द्रित नहीं है। बात सुनने में यथार्थ लगती है क्योंकि हम ऐसा देखते हैं कि मोक्ष की उपलब्धि व्यक्तिगत उपलब्धि है सामाजिक उपलब्धि नहीं। एक व्यक्ति ने यदि तत्त्व बोध प्राप्त करके

मोक्ष प्राप्त किया तो वह उसका अपना ही मोक्ष होगा, वह किसी दूसरे का मोक्ष तो नहीं कर सकता। इसलिए जो लोग यह समझते हैं कि भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म आत्म केन्द्रित हैं, उनकी समझ बहुत दूर तक तो नहीं, कुछ सीमा तक तो सही ही प्रतीत होती है लेकिन भारतीय विचारक ऐसा नहीं मानता।

मेरी इस विषय में ऐसी राय है कि कोई भी मोक्ष प्राप्त व्यक्ति या मोक्ष के लिए साधनारत व्यक्ति जितना लोक के लिए, समाज के लिए उपयोगी हो सकता है उतना वह नहीं जो स्वंय की अबोधता, अज्ञानता, अविद्या, असमर्थता में यानी अनेक प्रकार की निर्बलताओं में लोकहित की केवल कल्पना किया करता है। भारतीय दृष्टिकोण में मोक्ष है पूर्णत्व की प्राप्ति या जीवन की पूर्णता। मोक्ष होता है अभाव से, अज्ञान से और मृत्यु से। अज्ञान को हमारे यहाँ अन्धकार तथा अभाव को दुःख कहा गया है और मृत्यु को तो मृत्यु ही कहा जाता है। इसलिए वेद का सन्देश है–

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्यों मा अमृतंगमय ।
असतो मा सद्गमय ।

अर्थात् अज्ञान से ज्ञान की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर तथा असत्य से सत्य की ओर चल। यह जो वेद का सन्देश है वह हमारे यथार्थ की ओर इंगित करता है। मैं आप लोगों को यह बता रहा था कि जो व्यक्ति अज्ञान युक्त है वह कितनी मात्रा में समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है? कितनी मात्रा में समाज को ज्ञान दे सकता है? जो अभाव पूर्ण है वह कितनी मात्रा में दूसरे का अभाव दूर करने में सक्षम हो सकता है? कितनी मात्रा में समाज के लिए प्रभावप्रद हो सकता है? जो व्यक्ति स्वंय मृत्यु के भय से ग्रसित है, वह समाज के लिए कितनी मात्रा में अमृत तत्त्व प्रदान कर सकता है? इसलिए हमारे पूर्व के ऋषियों ने जीवन की सार्थकता का

अनुसन्धान करके हमें बताया कि समाज के लिएं, लोक के लिए, विश्व के लिए वही व्यक्ति उपयोगी हो सकता है जो अपने लिए उपयोगी है। जो अपने लिए उपयोगी नहीं है वह कभी समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। अपने लिए अनुपयोगी माने जो स्वंय ज्ञानयुक्त नहीं, स्वंय तृप्त नहीं। यह बात तो आप लोग भी अनुभव कर चुके होंगे कि समाज की सेवा वही कर सकता है जिसे अपनी कुछ चाह न हो। अपनी चाह रखते हुए कोई समाज की भलाई कर सकता है क्या? कोई नहीं कर सकता क्योंकि जब तक अपनी चाह है, अपनी माँग है, अपनी ख्वाईश है, तब तक समाज के भले की आप सोच नहीं सकते। इसलिए अब तक के इतिहास में जितना मानवीय जाति का हित भारतीय मुमुक्षुओं ने किया है उतनी मात्रा में किसी भुभुक्षु ने नहीं किया। भुभुक्षु माने भोगाभिलाषी अर्थात् जो भोग की कामना करने वाला है वह दुनिया का हित नहीं कर सकता, उसको तो पहले अपनी पूर्ति की कामना वा चिन्ता बनी रहती है।

भारतीय मनीषियों ने यह बात हमें बताई कि तुम पहले मुमुक्षु बनो भुभुक्षु नहीं। भोग की कामना से ऊपर उठो और मोक्ष की कामना से युक्त होकर उसके साधन में प्रवृत्त होओ क्योंकि साधन से भी तुम समाज का बहुत बड़ा हित करोगे। सबसे पहले मोक्ष का अभिलाषी हर एक प्रकार के परिग्रह से मुक्त हो जाता है। इससे बड़ा समाज का कौन हितैषी है जिसकी कोई अपनी अपने लिए माँग ही नहीं है? जो मोक्ष की कामना में लगता है सबसे पहले उसकी आवश्यकताएँ कम हो जाती हैं। जिसकी जितनी कम आवश्यकता है वह उतना ही बड़ा साधक है। जिसकी जितनी अधिक आवश्यकता है वह उतना ही बड़ा रोगी है, भोगी है। इसलिए साधक बनने के लिए या साधना में प्रवृत्त होने के लिए भारतीय दर्शनशास्त्र में कुछ शर्तें हैं, उनको देखते हुए हम बड़ी दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि समाज का हित, दुनिया का हित, मनुष्य का नहीं प्राणिमात्र का

हित यदि कोई कर सकता है तो या तो वह जो मोक्ष को प्राप्त कर चुका है या वह जो मोक्ष के रास्ते पर चल रहा है।

साधन करते हुए एक ऐसी अवस्था आती है जिसे हम छठी भूमिका कहते हैं यानी प्राण की गति को, जीवन की गति को या जीवनी शक्ति को हम मूलाधार से उठाकर क्रमशः उसे ऊपर लाते हुए आज्ञाचक्र तक पहुँचते हैं। इस अवस्था में पहुँचने पर हमारी स्थिति यह होती है कि हम प्राणिमात्र से तादात्म्य अनुभव करने लगते हैं। उस अवस्था में हमारी दो प्रकार की स्थिति होती है। हम अपने आध्यात्मिक रूप से तो चित्तस्थ होते हैं या बुद्धिस्थ समझ लीजिए आप। जिसे सांख्य की भाषा में बुद्धिस्थ कहते हैं वही योग की भाषा में चित्तस्थ कहा जाता है। चित्तस्थ होने पर हम स्व की अनुभूति का एक मधुर रसास्वादन करते हैं जिसे आत्म तृप्ति कहते हैं। चित्त विभु है अणु नहीं, यह बात याद रखें। चित्त विभु होने के नाते उस अवस्था में हमारा प्राणिमात्र से तादात्म्य होता है। तादात्म्य होते हुए क्योंकि हम चित्तमुक्त नहीं होते चित्तयुक्त होते हैं इसलिए प्राणिमात्र की स्थिति का हमें अनुभव होता है और अनुभव करके हम व्यथित हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। दुःखी इसलिए होते हैं क्योंकि हम यह देखते हैं कि जैसे हम हैं वैसे ये भी हैं। जो चेतना इनमें काम कर रही है, वह हमारी ही सत्ता, हमारा ही अंश, हमारा ही प्रकाश है लेकिन अबोधता के नाते, केवल अपने आप को न जानने के नाते, ये इस अवस्था में बिना मतलब की बातों में दुःखी हो रहे हैं, पीड़ित हो रहे हैं, रोते हैं और चिल्लाते हैं। उन वस्तुओं के लिए कलह करते हैं जिनका इनके जीवन में कोई स्थान नहीं है और उन वस्तुओं के लिए दौड़ते रहते हैं, हाय–तौबा मचाते हैं जिनसे इनका कोई मतलब नहीं है। न इनके जीवित रहने में ये काम आने वाली वस्तुऐं हैं और न मरने पर। यह सब है केवल अज्ञानता के नाते। उस समय उस योगी में यह संकल्प उदय होता है कि इन व्यथित व्यक्तियों को जो

अज्ञानतावश दुःखी हैं, इनकी अज्ञानता को दूर करने के लिए वह कुछ काम करे। उस अवस्था में उसमें करुणा का उदय होता है। उस करुणा से प्रेरित होकर वह उन जीवों को जो अबोधता, अज्ञानता के नाते अकारण व्यथित हैं, दुःखी हैं, उनको सीख देने के लिए, बताने के लिए कि आप क्यों अनावश्यक तत्त्वों में उलझे हुए हो और अपने अन्तर की व्यथा को दूर करने के लिए वह उनके पास पहुँचता है। उनके कल्याण का यह संकल्प उस योगी को नीचे उतार देता है। जीवों के प्रति करुणा की यह भावना उसके कैवल्य में बाधक होती है। वह योगी कैवल्य का अधिकारी नहीं रहता अर्थात् कैवल्य प्राप्त नहीं करता। यह करुणा व्यवधान रूप में सामने आ जाती है। जनसामान्य के दुःख को दूर करने के लिए वह वहाँ से नीचे उतरता है। नीचे उतर कर वह जनसामान्य के स्तर पर आता है और अपनी समझी हुई, अपनी अनुभूत बात उनको समझाता है। कुछ लोग उसके जीवन को देखकर, कुछ उसके आचरण को देखकर, कुछ उसके विचारों को सुनकर और कुछ उसके शरीर के स्पर्श से जागृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् दर्श, सदाचरण, स्पर्श, समागम आदि के द्वारा वह मानवीय चेतना को प्रबुद्ध करता है। दृष्टि के द्वारा, वाणी के द्वारा, स्पर्श के द्वारा और उपस्थिति मात्र से वह जनसामान्य को जो जिस स्तर पर है, उसको वहाँ से ऊपर उठाने की कोशिश करता है। यह करुणा उसको छठी भूमिका में रखती है। वह स्वार्थ रहित है इसलिए उसके गिरने की सम्भावना नहीं होती। रहता वह वहीं है लेकिन वह वहाँ से ऊपर नहीं जाता अर्थात् कैवल्य को प्राप्त नहीं कर पाता। चित्तमुक्त हो जाए तो कैवल्य को प्राप्त कर जाता है लेकिन करुणा के नाते चित्तमुक्त हो नहीं पाता। वह चित्तयुक्त रहता है। वह करुणा जो उसको जनसामान्य में लाने का कारण बनती है उसको वह अहितकर नहीं मानता क्योंकि वह उसे प्रेरित कर रही है कि जनसामान्य को ऊपर उठने की आप प्रेरणा दो। यह भी

T

ईश्वरीय विधान है, उसके अपने वश की बात नहीं होती। उस अवस्था में जो रहते हैं उनको हमारी भाषा में गुरु कहते हैं। उस अवस्था में रहने वाला योगी ही गुरु पद का अधिकारी होता है। वह योगी गुरु रूप में जनसामान्य को ऊपर उठने की प्रेरणा देता है और वही विशेष रूप से लोकसंग्रह, लोक–कल्याण, लोकहित में प्रवृत्त होकर के जन कल्याण वा जनहित में काम करता है।

उस करुणापूर्ण चित्त को लोगों ने भिन्न–भिन्न रूपों में स्वीकार किया है। कुछ लोगों ने यह माना है कि कैवल्य में बाधक होने के नाते करुणा स्वयं में एक दोष है। यह उन योगियों ने माना है जो कैवल्य के उपासक हैं लेकिन जो उसमें रहने वाले हैं, वे यह कहते हैं कि दोष तो तब हो जब उसमें बंधन का कोई अंश हो। बन्धन नहीं है फिर क्या है? मोक्ष? मोक्ष भी नहीं है क्योंकि जहाँ बन्धन होता है वहाँ मोक्ष होता है। बन्धन नहीं है इसलिए मोक्ष नहीं है। बन्धन मोक्ष से रहित है वह अवस्था। बन्धन मोक्ष से रहित होते हुए भी वह कैवल्य नहीं है। कैवल्य माने आत्मा का परमात्मा में लय हो जाना। वह लय अवस्था को प्राप्त नहीं होता। प्रश्न होता है कि वह योगी कब तक उस अवस्था में रहता है? उसके लिए शास्त्रकारों ने कहा है कि उसकी यह स्थिति एक कल्प तक रहती है। यदि कोई ऐसा साधक है जिसने कल्प के मध्य में ही ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लिया है तो वह कितने दिन तक रहेगा? उसके लिए कहा कि जब उस कल्प का अन्त हो जाएगा। कल्प के अन्त में जो प्राणी शेष रहते हैं वह उस तम में लय हो जाते हैं और कल्प के बाद उनका फिर दुबारा सृजन होता है। इसलिए कल्प में चित्त लय के साथ वह स्वयं लय हो जाएगा क्योंकि उसका चित्त ब्रह्मा का चित्त होता है और उस अवस्था में ब्रह्मा के लय से उसका लय हो जाता है। यह साधन की बात है।

मैं आप लागों को बता रहा था कि जो लोग परमार्थ की साधना

T

में लगे हुए हैं, वे इस लोक के लिए हर प्रकार से अधिक उपयोगी हैं, क्योंकि वे कभी किसी को अपने लिए प्रयोग करने की चाह नहीं करते। संसार में जो अशांति, दुःख वा पीड़ा है, उसका कारण है कि कुछ लोग अपनी पूर्ति के लिए दूसरों का प्रयोग करते हैं और करते रहते हैं। यही अनर्थ की जड़ है। जो बलवान् है वह अपने से निर्बल को अपनी पूर्ति के लिए प्रयोग करता है। यह सामान्य नियम है और इस नियम में कोई दूसरा विधान काम नहीं करता। यह एक ईश्वरीय नियम है, इसमें कोई कितनी ही कसमें खाता रहे कि वह दूसरों को अपने लिए प्रयोग नहीं करेगा लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। यह एक विधान है कि बलवान् सदैव निर्बल को अपनी पूर्ति का माध्यम बनाता है। इस नियम में वही बँधा हुआ है जो अभाव युक्त है लेकिन जिसको अपनी पूर्ति की चाह नहीं वह भला किसी को अपने लिए क्यों प्रयोग करेगा? इसलिए वही निर्बलों का हितैषी हो सकता है और वही लोक हितैषी भी हो सकता है।

एंक बात याद रखें कि जो आपसे अधिक हैं या आपसे ऊपर की स्थिति में हैं, जो आपसे ऊँची अवस्था में हैं, उनको आपकी ज़रूरत नहीं है। आपकी ज़रूरत उसी को है या आप उसकी सहायता कर सकते हैं जो आपसे नीचे की अवस्था में हैं। जो आपसे ऊँची अवस्था में हैं, उनका आप कोई अहित भी नहीं कर सकते क्योंकि अहित करने की आप में क्षमता नहीं है। हित करने की भी क्षमता नहीं क्योंकि वे आपसे पहले ही आगे बढ़े हुए हैं इसलिए आप अपनी शक्ति के प्रयोग से हित और अहित उसी का कर सकते हैं जो आपसे नीचे हैं। जो अभाव युक्त प्राणी है, जिसको अपनी पूर्ति की चाह है, वह सदैव अपने से नीचे रहने वाले प्राणियों का शोषण करता है। जिसको अपनी पूर्ति की चाह ही नहीं रही तो जो उसके ऊपर हैं, उनकी तो उसे ज़रूरत नहीं है और जो उसके नीचे की स्थिति में हैं उनकी पूर्ति में, उनके उत्थान में वह सदैव अपनी शक्ति

का प्रयोग करेगा। इस दृष्टि से भी जो साधक है और मुमुक्षु है वह लोकहितकारी है इसलिए भारतीय मनीषियों ने कहा पहले आप अपने उत्थान की दिशा अपनाओ, अपने कल्याण की दिशा अपनाओ। यदि आप अपने कल्याण की दिशा नहीं अपनाते और लोकहित करने को आप चल दिये या प्रतिज्ञा कर लिये तो आपका यह प्रमाद मात्र है यथार्थ स्थिति नहीं है। आपकी कल्पना केवल कल्पना मात्र है, उसमें कोई तथ्य नहीं है यानी आपसे कोई लोकहित का सम्पादन होने वाला नहीं है। यह भारतीय मनीषियों की घोषणा है–

आचार्यवान् पुरुषो वेदः।

आचार माने व्यक्तिगत उत्थान के लिए स्वीकार की गई विधि। यह वह विधा है जिसके द्वारा व्यक्ति का व्यक्तिगत उत्थान होता है। आचार का दूसरा पहलू है व्यवहार। व्यवहार वह साधना है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में दूसरे के साथ बरतता है। आचार स्वयं से सम्बन्धित है और व्यवहार समाज से सम्बन्धित है। कल जैसे मैंने बताया था कि जिसका आचार शुद्ध है उसी का व्यवहार शुद्ध होगा। जिसका आचार अशुद्ध है उसका व्यवहार कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता इसलिए हमारे यहाँ जितने दर्शनशास्त्र हैं उनमें योगदर्शन की बड़ी महिमा है क्योंकि योगदर्शन आपको आचारयुक्त जीवन बिताने की विधि बताता है। यह साधना का ग्रन्थ है। योग की प्रक्रियायें वैदिक काल से चली आ रही हैं। वेद में भी हमें साधना की बातें मिलती हैं, साधना की प्रक्रियायें मिलती हैं। उपनिषदें तो ब्रह्मविद्या नाम से कही ही जाती हैं। यह जो साधना की प्रवृत्ति है वह हमारी संस्कृति और धर्म का स्रोत है।

प्रत्येक व्यक्ति जो भी अपने जीवन में उन्नत होने की चाह रखता है, उसे साधक होना चाहिए। सही में यदि मेरे से पूछा जाए तो मैं कहूँगा कि मनुष्य जन्म से साधक है, स्वभावतः साधक है, सहज रूप से साधक है। साधना उसका सहज धर्म है क्योंकि साधना का मूल

T

आधार है जिज्ञासा। जिज्ञासा ही मनुष्य का सहज धर्म है। एक बच्चे को देखिए, अभी वह बोलता नहीं परन्तु जो कुछ पायेगा उसको मुँह में डालेगा। यह उसकी एक प्रकार से खोज की प्रवृत्ति है। जब बोलने लगता है तो हर एक प्रकार की वस्तु को देखकर पूछेगा कि यह क्या है? मानव की सहज वृत्ति है जिज्ञासा वा जानने की इच्छा और जिज्ञासा ही साधना की जड़ है क्योंकि जब जानने की इच्छा आपको होगी तभी जानने की विधि आप अपना सकते हैं। साधना का लक्ष्य या साध्य है ज्ञान और कुछ नहीं। ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं है लेकिन हर एक कर्म का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है। गीता के चौथे अध्याय में भगवान् ने कहा है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । (गीता ४/३३)

अर्थात् सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं, ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है। हर एक कर्म जो आप करते हैं वह कर्म तो क्रिया के साथ ही पूर्ण हो जाता है लेकिन वह अपनी अनुभूति आपको दे जाता है। कर्म का परिणाम है अनुभूति। कर्तापन की अनुभूति वा क्रिया की अनुभूति कर्म आपको देकर जाता है। अनुभूति माने ज्ञान। यह ज्ञान जो है वह कर्म का परिणाम कहिये या कर्म का ज्ञान में ही पर्यवसान है, ऐसा कहिये।

ज्ञान कर्म का फल है ऐसा हम इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि बिना ज्ञान के आप कर्म में प्रवत्त ही न होते क्योंकि ज्ञान तो पहले भी था जिस समय आप कर्म में प्रवृत्त हुए थे। ज्ञान के अभाव में कोई व्यक्ति कर्म कर ही नहीं सकता। आप लोग जब साधन करते हैं तो साधन का ज्ञान है तभी न? आप कह सकते हैं कि नहीं, साधन तो आप जैसा बताते हैं वही हम करते हैं। हम बताते इसलिए हैं जब आप में समझने का ज्ञान है। हम उस पीपल के वृक्ष को क्यों नहीं बता देते कि तुम आसन करो, प्राणायाम करो, ऐसे अपनी उन्नति करो, ज्ञान को ग्रहण करो। ज्ञान को ग्रहण करने के लिए

भी ज्ञान की ज़रूरत होती है। ज्ञान ज्ञान के द्वारा ही अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और ज्ञान का प्रकाशक भी ज्ञान है, ये बातें याद रखें। ज्ञान की पूर्ति भी ज्ञान द्वारा होती है,. ज्ञान ज्ञान के द्वारा ही समझा जाता है। अन्तर इतना है कि ज्ञान की कुछ मात्रा या कुछ अंश विकसित है कुछ प्रसुप्त है। जब आप किसी विशेषज्ञ के पास जाते हैं तो वह अपने ज्ञान द्वारा आपका जो प्रसुप्त ज्ञान है उसको जागृत करता है, उसका इतना ही काम है और कुछ नहीं इसलिए वह गुरु कहा जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय ज्ञान तो व्यक्ति में पहले से ही मौजूद है और ज्ञान की अभिवृद्धि ज्ञान के द्वारा होती है इसलिए साधन का परिणाम ज्ञान है।

साधक तो आप हैं ही, जन्मजात साधक हैं। आप यह मत सोचें कि हम जन्मजात साधक हैं ही इसलिए सिद्धि प्राप्त हो जाएगी। जन्मजात साधक होने से साधन की सामग्री आपके पास है परन्तु उसके प्रयोग की प्रक्रिया का बोध आपको नहीं है। इसलिए किसी गुरु के पास बैठकर, किसी जानने वाले के पास बैठकर जब आप प्राप्त साधन के प्रयोग की विधि का बोध प्राप्त करते हैं तो आप उस समय यथार्थ रूप में साधक बन जाते हैं। उस समय आपको अनुभव होने लगता है कि आप साधक हैं, उससे पहले आपको पता नहीं चलता। इस प्रकार की विधि जब आपके बोध में आ जाती है तो आपमें जो प्रसुप्त शक्तियाँ हैं, वे धीरे–धीरे जागृत होने लगती हैं और जो कुछ साधना की सामग्री है उसका आप सही रूप में प्रयोग करने लगते हैं। उसमें प्रयोग करने का कारण बना जानकारी वा ज्ञान इसलिए ज्ञान ही आपके जीवन के विकास की भूमिका है, ज्ञान ही जीवन के विकास का मार्ग है और ज्ञान ही आपके जीवन के विकास की पूर्ति है। आदि, मध्य और अन्त तीनों ज्ञान है, ज्ञान के सिवा कुछ नहीं है। ज्ञान से ही आपका आविर्भाव होता है, ज्ञान में ही आप पलते हैं और ज्ञान में ही आपका लय होता है इसलिए हर एक व्यक्ति को

T

चाहिए कि वह सजग हो करके अपने जीवन के समुचित विकास के लिए मिली हुई सामग्री का सदुपयोग करे।

यह याद रखें कि आपके पास साधन की पर्याप्त सामग्री है। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष और विज्ञानमय कोष, ये चार कोष साधन के लिए हैं, आनन्दमय कोष से साधन नहीं होता। अन्नमय कोष स्थूल शरीर से, प्राणमय कोष इन्द्रियों से, मनोमय कोष मन से और विज्ञानमय कोष बुद्धि से सम्बन्धित है। इनसे उत्तम और कोई साधन नहीं है। आप यदि यह सोचें कि हमारे पास पूजा करने के लिए, अमुक प्रकार का यज्ञ करने के लिए या पाठ करने के लिए कोई सामग्री नहीं है, हम अमुक प्रकार का शास्त्र नहीं पढ़ सकते और न ही हमारे पास इतना ज्ञान है आदि–आदि, ये जितनी बातें हैं सब बाह्य जगत की हैं। यह साधन में सहायक तो हैं लेकिन इनका साधन से सीधा सम्बन्ध नहीं है। साधन से सीधा सम्बन्ध है केवल आपके शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का। इन्हीं का प्रयोग करना होगा। एक बात और याद रखें कि यदि आप शरीर, इन्द्रियाँ और मन, इन तीनों से साधना में लगे हैं लेकिन बुद्धि आपकी सजग नहीं यानी प्रसुप्त है, निर्बल है तो ये तीनों साधनायें व्यर्थ हो जायेंगी। कठोपनिषद् में एक कथा है जिसमें यह बात बताई गई–

आत्मानँ रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँ स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।

(कठ १/३/३,४,५)

आपका शरीर रथ और जीवात्मा रथी है। बुद्धि सारथि, मन लगाम और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। रथ भी है, घोड़े भी जुते हुए हैं, लगाम भी

लगी हुई है और इनका सारथि अर्थात् आपकी बुद्धि यदि निर्बल, कमज़ोर, अयोग्य, अज्ञानी और अप्रशिक्षित है तो फिर क्या होगा? यह रथ कहाँ जायेगा? ऐसे मनुष्य की इन्द्रियाँ दुष्ट अश्वों के समान उच्छृंखल हो जाती हैं इसलिए आप लोग याद रखो कि आपके पास साधन की जितनी सामग्री है, इनमें श्रेष्ठतम बुद्धि है।

प्रसुप्त बुद्धि को जागृत करने का साधन है गुरु का सत्संग, इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। आप दिन–रात आँख मूँद कर बैठे रहो इससे आपको सद्बुद्धि नहीं मिलने की। ये सब बहिरंग साधनायें हैं अतः आत्मबोध की प्राप्ति में काम नहीं आतीं। इनसे आपकी योग्यता और क्षमता का निर्माण होता है। आसन, प्राणायाम और ध्यान का सम्बन्ध शरीर, इन्द्रियाँ और मन से है इसलिए बुद्धि की सजगता के लिए सद्गुरु के सत्संग की, सद्गुरु के सान्निध्य की महिमा है, एक प्रबुद्ध व्यक्ति के विचार की आवश्यकता है। बुद्धि का जागरण वहीं से होता है क्योंकि हर एक की अपनी–अपनी खुराक होती है। आप हमारे ब्रह्मज्ञान को सुनकर बैठे रहो तो इससे आपका शरीर तन्दरुस्त नहीं होने का क्योंकि शरीर का क्षेत्र अन्नमय कोष है। यह तो आप लोगों ने देख लिया कि शरीर अस्वस्थ होने लगा तो जानते हुए, देख रहा हूँ कि शरीर अस्वस्थ हो रहा है, समझ रहा हूँ कि अस्वस्थ हो रहा हूँ, बता भी रहा हूँ कि बीमार होने जा रहा हूँ लेकिन उसके रोकने का कोई उपाय नहीं किया, मेरा ब्रह्मज्ञान उसे रोक नहीं सका। उसके रोकने का दूसरा उपाय था लेकिन उसके प्रयोग की रुचि नहीं बनी। नहीं बनती कभी–कभी। क्यों नहीं बनती? उसका अपने को भी पता नहीं है। इसको हम मानते हैं प्रारब्ध। जिस बात की हम दूसरे को चेतावनी देते हैं लेकिन असका प्रयोग हम अपने लिए नहीं कर सके ।

हम पहले सोचा करते थे कि रमण महर्षि इतने बड़े योगी थे, उनको रोग कैसे हो गया? आचार्य शंकर इतने महान् योगी थे,

T

उनको भगन्दर रोग कैसे हो गया? हम सोचते थे कि ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि योगी का तो अपने शरीर पर पूरा प्रभुत्व होता है। अब मैं समझता हूँ कि उन्हें कैसे रोग लग गया। उसका कारण है कि जो सदैव चित्त में स्थित है वह शरीर की परवाह नहीं करता। शरीर की थोड़ी–सी उपेक्षा की और इतने में जो शरीर पर हावी होने वाले तत्त्व हैं, वे हावी हो गये, बाद में यदि ध्यान भी दिया तो मामला गड़बड़ हो चुका होता है। इसलिए शरीर से ऊपर उठ करके अर्थात् अन्नमय कोष से ऊपर उठे तो प्राणमय कोष में गये, प्राणमय कोष से ऊपर उठे तो मनोमय कोष में गये और मनोमय कोष से ऊपर उठे तो विज्ञानमय कोष में गये। विज्ञानमय कोष में जो चौबीस घण्टे रहने वाला है वह अन्नमय कोष की यदि चिन्ता करने लगे तो उसका तो वहीं दिवाला निकल जाए। ऐसा हो ही नहीं सकता,जानते हुए भी वृत्ति नहीं बनती इसलिए मैं आप लोगों को बता रहा था कि जिसकी जो खुराक है वह उसे मिलनी चाहिए, सन्तुलन होना चाहिए। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष और विज्ञानमय कोष को अपनी–अपनी जगह ठीक रखो। हर एक यन्त्र को अपनी–अपनी जगह पर सैट रखो लेकिन यह जो उपदेश मैं दे रहा हूँ, यह सन्तुलन रहता नहीं, नहीं रह पाता। अब क्यों नहीं रह पाता इसके लिए अपने पास कोई उत्तर नहीं। जब शरीर की परवाह ही नहीं रहती तो कभी–कभी शरीर को रोग हो जाता है। परवाह इसलिए नहीं रहती क्योंकि योगी सदैव विज्ञानमय कोष में रहता है। विज्ञानमय कोष में रहने वाले को अन्नमय कोष में आना मुश्किल होता है, शरीर की सम्भाल नहीं हो पाती है। इसी लापरवाही में कई ऐसे योगी हैं जो शरीर छोड़ देते हैं।

स्वामी रामतीर्थ गंगा जी में खड़े थे, उनका शिष्य उन्हें कह रहा था कि आप गंगाजी में बह जाओगे लेकिन वह तो अपने मस्ती में थे कि हमें कौन बहा सकता है? जहाँ वे थे सही में वहाँ से उन्हें

कोई बहा नहीं सकता था लेकिन शरीर में तो वह थे नहीं। जब शरीर उखड़ गया तो बह चले। शिष्य ऐसे खड़े थे किनारे पर, सब रोते रह गये। गंगा जी में बह गये। जब बहे जा रहे थे तो थोड़ी दूर गये तो हाथ उठाकर कहा, अब राम जा रहा है। यह आखिरी शब्द था उनका। आप सोचिए शिष्यों की क्या गति हुई होगी! गंगा जी ने उन्हें नीचे धारा में लपेट लिया। जहाँ वह कह रहे थे कि राम को कौन बहा सकता है, तो सही में राम जहाँ रहा वहाँ तो कोई नहीं बहा सकता था। राम कोई बहने वाली चीज़ तो थी नहीं, बह तो रहा था शरीर। जब शरीर बह गया तो राम कहता है, अच्छा भैय्या! राम जा रहा है। मेरे कहने का अभिप्राय यह स्थिति होती है, उसमें किसी का दोष नहीं है।

यह अवस्था तो विज्ञानमय कोष में रहने वाले योगियों की होती है, परन्तु जिन्हें अभी रास्ता तय करना है उनके लिए यह बहुत ज़रूरी है कि वे सदैव विज्ञानमय कोष, मनोमय कोष, प्राणमय कोष और अन्नमय कोष से सजग रहें क्योंकि यदि छकड़ा खराब हो गया तो आप कहीं नहीं जा सकते। जाने के लिए जिसको अभी रास्ता तय करना है, उसको अपनी सवारी को ठीक रखना बहुत ज़रूरी है। इसलिए अभ्यासी जो साधक हैं उनको अपने शरीर की सुरक्षा, शरीर की व्यवस्था और शरीर की सम्भाल बहुत ज़रूरी है। शरीर की सुरक्षा, व्यवस्था और सम्भाल के लिए आसन, प्राणायाम, संयमित आहार और संयमित विहार है। जिन इन्द्रियों से आपको ज्ञान का अनुसन्धान करना है, काम लेना है, उनकी सम्भाल आवश्यक है और उनके लिए संयम, प्राणायाम और समुचित आहार है। जिस मन से आपको काम लेना है, उसकी सम्भाल के लिए ध्यान, एकाग्रता और चिन्तन है। जिस बुद्धि से आपका यह सारा जीवन चल रहा है, उसकी सम्भाल तथा सजगता के लिए प्रबुद्ध व्यक्तियों का संग अनिवार्य है। विज्ञानमय कोष की जागृति हमारे यहाँ वैदिक सिद्धान्त

यह मानता है कि सद्‌गुरु कृपा से ही होती है। इसके लिए कोई और साधन नहीं। विज्ञानमय कोष की जागृति सद्‌गुरु कृपा से तब होगी जब आप उनका संग करोगे। उसके लिए श्रद्धा शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् कपट रहित व्यवहार।

मन कर्म बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहै रघुराई ।

अहं रहित क्रिया जब होगी और निष्ठा के साथ प्रबुद्ध व्यक्ति का जब आप सत्संग करोगे तो आपके विज्ञानमय कोष की जागृति होगी। ये बातें साधन से सम्बन्धित हैं और सबके लिए उपयोगी हैं। इनको ध्यान में रखते हुए आप लोग साधन करेंगे तो मैं समझता हूँ सफलता आप से दूर नहीं रहेगी। इसलिए हर एक व्यक्ति को यह स्वीकार करना चाहिए कि वह साधक है। आप अपने को कुछ न मानिये, यह मानिये कि आप साधक हैं। न स्त्री हैं न पुरुष हैं, न ब्राह्मण हैं न क्षत्रिय, न बड़े हैं न छोटे। फिर आप हैं क्या? सही माने में मानव हैं, साधक हैं। अपने आप में यह स्वीकृति हो कि मैं साध्य को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त हुआ एक साधक हूँ। साधक सदैव जिज्ञासु हुआ करता है। आप अपने आपको जिज्ञासु रूप में देखिए और वहीं से आप साधना शुरू कीजिए। साधना में आपको शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की ज़रूरत है इसलिए इन सबकी सम्भाल होनी चाहिए। कोई भी साधना ऐसी मत कीजिए जिससे आपका शरीर क्षीण होता रहे। शरीर कमज़ोर हो जायेगा तो आप साधना में आगे नहीं बढ़ पायेंगे। कोई ऐसी साधना न करें जिससे इन्द्रियाँ कमज़ोर हो जाएँ, कोई ऐसा साधन न अपनाएँ जिससे मन निर्बल हो जाए। शरीर, इन्द्रियाँ,मन और बुद्धि स्वस्थ होने चाहिए। स्वस्थ माने अपने स्व में स्थित हों, इनकी जो सही स्थिति है वह बनी रहे। साधन का यह रहस्य है। जितना अधिक समय आप साधन में लगायें उतना ही अच्छा है। दिन में चौबीस घण्टे होते हैं। जीविका कमाने में यदि आप बारह घण्टे लगाते हैं तो जीवन के लिए भी बारह घण्टे दें।

कम से कम आधे–आधे का तो मामला बना रहे। यदि सारे कर्म परमात्मा के होकर करें तो सारा साधन हो जाता है। मेरी यह राय है कि जीवन में साधना नहीं करनी चाहिए अपितु जीवन ही साधन होना चाहिए। जीवन साधन तब बनेगा जबकि आप इन चारों साधन तत्त्वों से अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से सजग और सतर्क रहेंगे। उचित रूप में इनका प्रयोग करते हुए आप साध्य की तरफ आगे बढ़ें। इसके अतिरिक्त आत्मोत्थान का और कोई दूसरा रास्ता नहीं। समाज कल्याण या लोकहित का संपादन वही कर सकता है जो आत्मरति है या परमार्थ की साधना में लगा है।

हरि ऊँ तत्सत्



प्रणव उपासना

हम सभी पहले ओंकार का नाद करें। ओंकार के नाद के बाद ही कुछ ग्रहण करने की स्थिति में स्वंय को पायेंगे। प्रणव का नाद करते हुए जब भी साधना में बैठना हो, ईश्वर चिन्तन में बैठना हो तो अपने श्वासों के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। नासिका से हृदय तक आने–जाने वाला श्वास प्राण है, हृदय से नाभि तक मध्य का भाग समान है, नाभि से नीचे जिसके द्वारा हम मल–मूत्र का त्याग, शरीर–पाँव का गमन आदि क्रिया करते हैं वह अपान है और सारे शरीर में जो व्याप्त है उसका नाम व्यान है। यह स्वाभाविक प्रवाह है। इस प्रकार हमारी नासिका से जाने वाला प्राण नीचे चार भागों में बँटा हुआ है, प्राण, समान, अपान और व्यान। एक उदान प्राण होता है जो हमारा विशुद्ध चक्र है इससे श्वास की गति ऊपर की ओर जाती है। है तो यह भी नैचुरल लेकिन विशिष्ट है क्योंकि हर एक गति का प्रवाह आकर्षण के आधार पर निश्चित होता है।

यह बात याद रखें कि गति के केवल दो कारण हो सकते हैं– (१) आकर्षण और (२) दबाव। तीसरा गति का कोई कारण नहीं होता। जहाँ भी गति होगी उसके दो ही कारण आपको मिलेंगे या तो आगे आकर्षण है और या कोई पीछे से धकेल रहा है। हमारे जीवन में गति का कारण क्या है? हमारे जीवन को कोई आगे से खींच रहा है या पीछे से धकेल रहा है। इस सम्बन्ध में भी दो सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त तो यह है कि काल जीवन को धकेल

T

रहा है वा नियति जीवन को धकेल रही है। जितने कर्मवादी हैं उनका कहना है कि हमारा अदृश्ट, हमारा प्रारब्ध या हमारे कर्म हमें पीछे से धकेल रहे हैं। यह जहाँ धकेलते हैं वही हमारा जीवन चला जाता है। कर्म से ही अदृश्ट बनता है और उसी से प्रारब्ध बनता है। अदृश्ट पूर्व मीमांसा का शब्द है और प्रारब्ध कर्मवादियों का सिद्धान्त है। हैं ये सब कर्म के पर्याय ही। काल भी कर्म से सम्बन्धित हो जाता है क्योंकि कर्म से परे काल का कोई अस्तित्व ही नहीं। काल भी कर्म का परिणाम है। कर्म का जन्म कर्ता के साथ होता है और जो कर्म कर्ता के साथ पैदा हुआ वह कर्ता कें निर्माण में कारण नहीं हो सकता, कर्ता के सृजन में कारण नहीं हो सकता। जब वह कर्ता के सृजन में कारण नहीं तो वह जीवन की गति में कारण है, ऐसा स्वीकार करना भ्रम है। इसलिए यह सिद्धान्त अयथार्थ, तर्कहीन और विवेकहीन है।

दूसरा प्रश्न आया कि जब जीवन पीछे से नहीं धकेला जा रहा तो इसमें गति का कारण क्या है? दूसरे सिद्धान्त के अनुसार जीवन में गति का कारण आकर्षण है। जीवन को अपनी ओर खींचने वाली सत्ता यानी जिसके कारण जीवन में आकर्षण है, कर्षण से युक्त होने के नाते उसे दूसरे शब्दों में कृष्ण कहते हैं। जो कर्षण करता है वह कृष्ण है अर्थात् वह परमात्मा हमारे जीवन को अपनी तरफ खींचता है, इसलिए जीवन में गति का कारण आकर्षण है दबाव नहीं। एक बात और आप समझ लें कि आकर्षण हमेशा आगे से तथा दबाव सदैव पीछे से होता है। यह तो आप जानते हैं कि जिधर को गति चल रही है उसके पीछे से दबाव होगा। यदि आगे से दबाव होगा तो गति दूसरी तरफ हो जाएगी। गति के पीछे दबाव तथा आगे आकर्षण होता है। हम लोग यदि चिन्तन करें तो हमें अपने जीवन की गति में आकर्षण का केन्द्र सदैव अपने आगे मिलेगा क्योंकि जीवन में गति के तीन कारण हैं—या तो कुछ पाने के लिए जिसको

T

हम सुख के साधन या सुख कहते हैं या कुछ जानने के लिए जिसको हम ज्ञान कहते हैं और या जीवित रहने के लिए जिसको हम सत् कहते हैं, इनके अलावा कोई चौथा कारण हमारे जीवन का, गति का या क्रियाओं का नहीं है। इसको दूसरे शब्दों में कहते हैं सच्चिदानन्द अर्थात् सत्–चित्त और आनन्द। सत् माने सत्ता अर्थात् जीवित रहने की चाह की पूर्ति, चित्त माने ज्ञान अर्थात् जानने की चाह की पूर्ति और आनन्द माने रस अर्थात् सुख की अनुभूति की लालसा। इसलिए हमारे जीवन में गति का कारण आकर्षण शक्ति है, यह निश्चित् हो गया।

अब जो मैं मूल बात आपको बता रहा था प्रणव उपासना की, उसी ओर ध्यान दीजिए। जैसे हमारे जीवन में गति का कारण कोई आकर्षण केन्द्र है, जहाँ से हमारा जीवन गतिशील हो रहा है, इसी रूप से जो प्राण हमारे अन्दर आ रहा है और आकर फिर जा रहा है, इसका भी तो कोई कारण होना चाहिए। बार–बार प्राण क्यों अन्दर आता जाता है? इसका भी कारण आकर्षण शक्ति ही है। वह आकर्षण शक्ति शास्त्रों में बताया गया कि अपान ने अन्न को आकर्षित किया। यदि अपान वायु हमारी विकृत हो जाए तो जो कुछ भी हम खायेंगे वह बाहर हो जाएगा, अन्दर रुक नहीं सकता। जो कुछ हम खाते हैं उसको अन्दर खींचने वाली शक्ति है अपान वायु, उसको हज़म करने वाली शक्ति है समान वायु, उसको सारे शरीर में पहुँचाने वाली शक्ति है व्यान वायु, प्राण तो वह है जिसके द्वारा हम अन्दर धकेल रहे हैं लेकिन ये चारों क्रियायें जिसके आधार पर चल रही हैं, इनको नियन्त्रित करने वाली, रोकने वाली शक्ति है उदान वायु जो गले से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक है। यह आकर्षण का केन्द्र, चेतना शक्ति या जीवन तत्व जिसे कहते हैं, वह इस ब्रह्माण्ड के नीचे है अर्थात् जो हमारा ब्रह्मरन्ध्र है इसके निचले भाग में है। इसके स्तम्भन के मूल आधार को उदान वायु कहते हैं। उदान का

अर्थ है ऊपर उठने वाली। जब तक हमारे शरीर पर नीचे वाले प्राणों का आधिपत्य रहता है तब तक शरीर एक सामान्य गति से चलता है। जब उदान वायु से हमारे प्राण का सम्बन्ध हो जाता है तो हमारा जीवन उस परम सत्ता के नियन्त्रण में पूर्ण रूप से आ जाता है। प्राण की गति को उदान की तरफ ले जाने का साधन भिन्न–भिन्न योगियों ने साधना की पद्धतियों में भिन्न–भिन्न बताया है लेकिन वेद की प्राचीन विधि जो ऋ षियों की विधि है, वह है प्रणव उपासना। गीता में भगवान् ने आठवें अध्याय में इसी प्रणव उपासना का वर्णन किया है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । (गीता ८/१३)

'ओंकार रूपी उस ब्रह्म का या सत्य का चिन्तन करते हुए मेरा ध्यान कर'।

मैं आपको बता रहा था कि जिस समय आप 'ॐ' का नाद करते हैं तो उस समय आपकी यह दृष्टि हो कि आपका प्राण अपने साथियों सहित उदान की ओर जा रहा है। यह साधन की बहुत बड़ी बात मैं आपको बता रहा हूँ। आपका प्राण अपने अवयवों के साथ यानी अपान, समान, व्यान के साथ उदान रूप में परिणित हो रहा है। एक बात मैं और आप लोगों को बताऊँ कि जिस समय आदमी मरता है तो मृत्यु के पश्चात् अपनी उदान वायु के माध्यम से ही वह दूसरे शरीर में जाता है। अपनी जीवनी शक्ति को वहन करने वाली जो वायु है वह उदान है। प्राण की गति खत्म हो जाती है तभी तो आदमी मर जाता है और अपान तो शरीर से सम्बन्धित है वह नीचे रह जाता है। कुछ पतित प्राणी अपान के रास्ते से जाते हैं, उनका उदान इतना नीचे गिरा होता है कि वे अपने रास्ते से न जाकर नीचे के रास्ते से जाता है। जाता उदान ही है, जीवन का वाहक उदान वायु ही है परन्तु कुछ लोग इतने निम्न स्तर पर गिरं जाते हैं कि उनका शरीर छूटे और मल–मूत्र निकल जाए तो यह समझना चाहिए कि

T

उनकी जीवनी–शक्ति मल द्वार या मूत्र द्वार से बाहर गई। उनकी उदान वायु इतनी पतित हो जाती है, इतनी गिर जाती है कि वह निचले रास्ते से निकल जाती है। ऐसे लोग कीट–पतंग आदि नाना प्रकार की नारकीय यानियों में जन्म लेते हैं, उनकी और कोई गति नहीं होती। वह जड़ जीवन में अर्थात् वृक्ष या कीड़े–मकौड़े आदि में जन्मते हैं। अनेक योनी तक उनकी यह गति चलती रहती है क्योंकि उनको फिर मूल से प्रारम्भ होकर मनुष्यता तक पहुँचना होता है। जिनका श्वास मुँह, आँख, कान और नाक से निकले, उनकी उदान वायु अपने सही रास्ते से जाती है। ये वे लोग हैं जो उत्तम लोकों में जन्म लेने वाले हैं, इनमें भी जिनका श्वास मुँह से निकलता है, वे मनुष्य योनी में आते हैं, जिनका नाक से निकलता है वे मनुष्य से थोड़ा ऊपर हो जाते हैं। आँख से जिनके प्राण निकलते हैं अर्थात् जिनकी आँखें खुली रह जाती हैं, ऐसे लोग उत्तम लोकों को प्राप्त करते हैं, जिन्हें स्वर्ग आदि कहते हैं। कान के माध्यम से जिनके प्राण निकलते हैं वे भी दिव्य लोकों को प्राप्त करते हैं क्योंकि शब्द आकाश से सम्बन्धित होता है। ऐसे लोग परम प्रकाश रूप ब्रह्मलोक तक पहुँच जाते हैं। जो कैवल्य को प्राप्त करने वाले लोग हैं वे ब्रह्माण्ड को फाड़कर शरीर छोड़ते हैं। यह साधना का रहस्य है।

जो क्रिया आपके प्राण को उदान के साथ जोड़ दे, वह क्रिया आपके उत्थान में कारण है, शेष सारी क्रियायें जो भी आप साधन के नाम पर अपनायेंगे, वे उतनी कारगर नहीं होने की। प्राण को उदान के साथ जोड़ने के लिए ही बताया जाता है कि श्वास के साथ मन्त्र जाप करें। इसलिए साधन में बताते हैं कि आप मस्तिष्क या हृदय में ध्यान करें। हृदय में ध्यान करने का अभिप्राय है कि अपान से ऊपर उठकर आये और ऊपर पहुँचते–पहुँचते आपका प्राण उदान में चला जाए, इससे धीरे–धीरे आपकी उन्नति होगी। 'ॐ' का नाद करने के लिए इसलिए आपसे कहते हैं कि 'ॐ' कहते हुए

आपका श्वास स्वयं ऊपर से ऊपर की ओर चला जाता है। एक बात और याद रखें कि कुछ लोग 'ॐ' में 'ओ' के ऊपर अधिक ज़ोर देते हैं। 'ओ' के ऊपर अधिक ज़ोर देने से आपका प्राण उदान की ओर नहीं जा सकता, उसकी ऊर्ध्वगति नहीं होगी इसलिए 'ओंकार' का नाद करते समय आप बहुत धीरे–धीरे से 'अ', 'उ' और 'म्' इन तीन अक्षरों का उच्चारण करें। अनुस्वार जो नाद मात्र है उसे चतुर्थ लोक कहते हैं।

माण्डूक्योपनिषत् में बताया गया है कि 'अ' भूः है, 'उ' भुवः है और 'म्' स्वः है। 'ॐ भूर्भुवः स्वः' के बाद जो तत् तत्त्व परम तत्त्व है, वह अर्धमात्र अनुस्वार है जिसे नादमात्र कहते हैं। उपनिषद् में 'अ', 'उ' और 'म्', ये तीनों जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति, विश्व, तैजस और प्राज्ञ तथा महेश, ब्रह्मा और विष्णु से सम्बन्धित हैं। जो अक्षर ब्रह्म है केवल नादमात्र या शब्द मात्र वह ब्रह्म से, नारायण से सम्बन्धित है। चतुर्व्यूह में उसे नारायण कहते हैं; पर विष्णु, सहस्त्र विष्णु या महाविष्णु भी कहते हैं। इसलिए आप लोग जब भी नाद करें जैसा मैं बता रहा था कि 'अ' और 'उ' के साथ मुँह बन्द हो और नाद चले अन्दर। नाद में फोर्स के साथ प्राण को आप उदान से मिलायें और उससे मिलाकर उसे ब्रह्माण्ड तक ले जाएँ। धीरे–धीरे जब साधन आप करते रहेंगे तो आपके नीचे की सारी शक्तियाँ ऊर्ध्वमुखी हो जायेंगी। आपका हृदय कमल जो नीचे लटका हुआ है, वह ऊर्ध्वमुखी हो जायेगा, जितने चक्र हैं जिनकी निम्न गति है, वे सारे ऊर्ध्वमुखी हो जायेंगे। मूलाधार ऊर्ध्वमुखी हो जायेगा, स्वाधिष्ठान जो दूसरा चक्र है, मणिपुर जो नाभिचक्र है, ये भी ऊर्ध्वमुखी हो जायेंगे क्योंकि शब्द के साथ इनकी गति ऊपर की ओर हो जायेगी। वह आकर्षण शक्ति अपने आप आपको नीचे से ऊपर की तरफ खींच लेगी। सारी साधनाओं का सार इतना ही है कि ब्रह्मरन्ध्र जो चेतना का निवास स्थान है, जहाँ से चेतन विभिन्न

नाड़ियों के माध्यम से नीचे आता है, इसे मोड़ना है। कठोपनिषत् में कहा गया है–

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।

(कठ० २/१/१)

हमारी इन्द्रियों को परमात्मा ने बहिर्मुखी बनाया है इसलिए ये बाहर ही देखती हैं अन्दर नहीं देखतीं। कोई एक धीर पुरुष इनके बाहर के प्रवाहों को पलट कर अन्दर की तरफ करके मूल की ओर या स्रोत की तरफ देखता है और उस परम तत्त्व का अनुभव करके कृत–कृत्य हो जाता है। सारी साधना का सार यह है कि हमारी इन्द्रियों के माध्यम से जो शक्ति का प्रवाह बाहंर की ओर जा रहा है, उसको किसी प्रकार से अपने आत्मबल के द्वारा अन्दर की ओर करें। यह बात याद रखें कि साधना में आत्मबल ही अधिक काम करता है। वेद मन्त्रों में बताया गया है–

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो ।

यह आत्मा निर्बल को प्राप्त नहीं होती। निर्बल माने शरीर से कमज़ोर नहीं। बड़े–बड़े महापुरुष शरीर से कमज़ोर हुए हैं परन्तु अपने आत्मबल के द्वारा अर्थात् अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा अपने को महान् बनाये हैं। इसलिए आप अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा अपने को आगे ले जाएँ, फिर दृढ़ संकल्प के द्वारा अपनी चेतन शक्तियों को खींचते हुए धीरे–धीरे ऊपर की ओर ले आयें। प्रणव के साथ नाद के द्वारा उनको लाकर ब्रह्मरन्ध्र में बैठायें और वहीं ध्यान करें। इसके लिए वेद में बताया गया है–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।

(मुण्डक० २/२/४)

जैसे बाण चलाने वाला धीर पुरुष अपने लक्ष्य की ओर अनुसन्धान

या ध्यान करते हुए बाण को धनुष के ऊपर रखकर मारता है और वह बाण लक्ष्य से एक हो ज़ाता है, इसी प्रकार से श्रुति कहती है–'प्रणवो धनुः' अर्थात् ओंकार धनुष है और प्राण शक्ति, आत्मा शक्ति या चेतना शक्ति बाण के समान है तथा ब्रह्म इसका लक्ष्य है। ब्रह्मरन्ध्र को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। साधक को चाहिए कि प्रणव के ऊपर अपनी चेतना शक्ति को स्थापित करके नाद के साथ पूर्णतया अपने आपको एक करके इतने ज़ोर से इसको फेंके, जैसे धनुष को हम जितना ज़ोर से खींचते हैं उतना तीव्र बाण जाता है। उसको अगर आप धीरे से खींचेंगे तो वह नज़दीक ही गिर जाएगा। जितना हम धनुष को नीचे की तरफ खींचते हैं उतना ही ज़ोर से, उतनी ही तीव्र गति से और उतने ही प्रभाव से बाण जाता है। इसी रूप से अपने प्राण को जितना नीचे से खींच कर उठायेंगे और नाभि से फेंकेंगे और वहाँ से बड़े ज़ोर के साथ नाद के द्वारा फेंकेंगे तो आपकी आत्मशक्ति अपने आप प्रणव रूपी धनुष के ऊपर से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाएगी। वहाँ अपने को प्रतिष्ठित कर देने के पश्चात आप शान्त हो जाएँ। यही प्रणव उपासना उद्‌गीथ उपासना है, इससे बढ़िया साधना आपको नहीं मिलने की और न ही मेरे पास इससे अधिक कुछ बताने का है। यह सर्वोत्तम साधन है।

साधक जीवन– आपकी यह स्थिति कब आयेगी जानते हो? इसके लिए बहुत ज़रूरी है कि आपका जीवन साधक का जीवन हो। साधक का जीवन माने आपके जीवन में हर एक क्रिया के साथ यह जागृति सदैव बनी रहे कि इससे आपका व्यक्तिगत अहं कितनी मात्रा में पुष्ट हो रहा है और आपके साथ जो रहने वाले लोग हैं उनके अहं की पुष्टि में यह कितना कारगर हो रहा है या उनके विकास में कितना उपयोगी हो रहा है। साधक को चाहिए कि वह सदैव अपने को सँभालते हुए अपने अहं की पुष्टि के सारे तत्त्वों को दूर करने

की प्रवृत्ति में लगा रहे। जिन–जिन क्रियायों से, जिन–जिन स्वीकृतियों से, जिन–जिन भावों से अहं की पुष्टि होती है, उन–उन क्रियाओं, भावों और स्वीकृतियों को छोड़ने की चेष्टा करे। अहं की पुष्टि साधना नहीं है, साधना वह है जिससे आपके अहं का परम कारण में समर्पण हो। उसके लिए सजगता की आवश्यकता है तथा कुछ व्रतों को जीवन में धारण करना अनिवार्य है, जो इस प्रकार हैं।

अहिंसा–प्रथम साधक को सदैव अहिंसक होना चाहिए। अहिंसा साधक का सहज धर्म है। अहिंसा का अभिप्राय होता है मन से, वचन से और कर्म से दूसरे को पीड़ा न पहुँचाना, किसी का अहित न चाहना और न तो उसका समर्थन करना जो दूसरे का अहित कर रहा हो। यदि आपको कोई किसी के अहित की बात सुना रहा है तो तुरन्त आप या तो कान में अँगुली डाल लीजिए और या कहने वाले को आप सुनाने से बन्द करें। अहिंसा के नाम पर अकर्मण्यता को अपना लेना, निर्बलता को पुष्ट करना, कायरता की शरण लेना अहिंसा पालन नहीं। हिंसा माने किसी को मार देना, लूट लेना या आप मांस खाते हैं कि नहीं, यहीं तक सीमित नहीं होता। सूक्ष्मतः इसे इस तरह कहा जा सकता है कि शरीर की पूर्ति के लिए किए जाने वाला कर्म हिंसा व शरीर से अलग होकर समष्टि के लिए किए जाने वाला कर्म अहिंसा है।

सत्य–अहिंसा की सिद्धि सत्य में होती है अतः साधक को सदैव सत्यवादी होना चाहिए। सत्य का अभिप्राय ऐसी वाणी बोलो जिससे प्राणिमात्र का हित हो, वही शब्द बोलो जो दूसरे का प्रिय हों। आपकी साधना किस काम की यदि आपके एक शब्द से दूसरे का हृदय हीं विदीर्ण हो जाये इसलिए सदैव मधुर और हितप्रद वाणी का ही प्रयोग करो। शास्त्रों में सत्य की परिभाषा यह भी की गई है कि जैसा आपने देखा है, सुना है, वैसा कहना ही सत्य है। मेरी यह राय है कि कोई

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी प्राणी जीवन में सत्य बोल ही नहीं सकता क्योंकि जैसा आपने देखा है वह अनर्थकारी है, मिथ्या है। जो आप देखते हैं वह कभी सत्य हो ही नहीं सकता क्योंकि आपकी आँख इन्द्रिय की सीमा है, यह सही बात देख नहीं सकती। इसी रूप से आपका कान भी सही बात नहीं सुन सकता है। जो देखा है, सुना है वह तो निन्यानवें प्रतिशत असत्य है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान सत्य नहीं है। इसलिए सत्य की सही परिभाषा यही है कि ऐसे शब्द बोलें जिससे प्राणिमात्र का हित हो।

यहाँ पर शास्त्रीय विधान में मन्त्री, वैद्य और गुरु के लिए सजगता की बात बताई गई है। गुरु को कभी–कभी ऐसी बात कहनी पड़ती है जो शिष्य को प्रिय नहीं लगती लेकिन कहना पड़ता है और उन्हें कहना भी चाहिए। शास्त्रीय विधान में इसको ताड़न कहते हैं। कभी–कभी वैद्य को भी कहनी पड़ती है। अभी मैं अपने जीवन की ही घटना आपको बता दूँ कि मैं पिछले दिनों सख्त बिमार था और अचानक ही मेरे प्रिय शिष्य जोशी साहब जिनका शरीर छूट गया है, वह असाध्य रोग में पड़े थे। उनकी यह अन्तिम चाह थी कि वह गुरु जी के दर्शन करें। आखिरी श्वास तक वह महाराज जी, महाराज जी करते रहे। मैं भी उन दिनों बीमार था और मेरा रोग भी असाध्य रोग था। ऐसा रोग था जिसका नाम सुनने से भी लोग घबराते हैं। यह कोई सुन ले कि अमुक को सन्निपात हो गया है तो उसकी आधी आशा तो समाप्त हो जाती है। हमारे यहाँ मानते हैं कि सन्निपात अन्तिम समय में होता है। जब मुझे यह रोग हो गया तो मैं सोचने लगा कि क्या यह मेरा अन्तिम समय है। मैं उठकर बैठ गया और ये सब लोग मेरे पास थे। मैंने इन लोगों को कहा कि मैं अभी देखकर बताता हूँ कि क्या परिणाम होने वाला है। मैंने देखा और इनसे कहा कि आप लोग घबराओ नहीं, अभी तो मुझे चालीस वर्ष तक और रहना है। मैं ठीक हो जाऊँगा। ऐसे भयंकर रोग से मैं भी ग्रसित

था। इसमें कभी ठीक हो जाना और कभी फिर पड़ जाना, ऐसे ही चलता है लेकिन जब यह सुना कि जोशी साहब अन्तिम श्वास ले रहे हैं, मेरे से रुका नहीं गया। मैं बिल्कुल दिल्ली जाने के लिए तैयार हो गया लेकिन वैद्य जो मेरे पास बैठा हुआ था, उसने कहा मैं आपको यहाँ से किसी मूल्य पर नहीं जाने दूँगा। आपके जीवन को कोई खतरा हो गया तो मैं उत्तरदायी नहीं, आप जाना चाहते ही हैं तो अपने 'रिस्क' पर जा सकते हैं परन्तु मैं जाने के लिए नहीं कह सकता। वह आठ घण्टे तक मेरे पास बैठा रहा और जाने नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि जोशी साहब का शरीर छूट गया परन्तु मैं दिल्ली नहीं जा पाया। मेरे कहने का अभिप्राय कभी–कभी ऐसी स्थिति आती है कि अप्रिय बात भी वैद्य इसलिए कहता है कि वह रोगी के हित में है। मन्त्री भी इसीलिए कहता है कि वह राज्य के हित में है और गुरु इसलिए कहता है कि वह शिष्य के हित में है। इसलिए गुरु, वैद्य और मन्त्री को बड़े सजग होने की आवश्यकता है इसलिए सत्य वही है जो दूसरे के लिए हितकर हो ।

अस्तेय–पर पदार्थ की कामना न करना ही अस्तेय है। मन से, वचन से, कर्म से दूसरे की वस्तु को प्राप्त करने की कामना करना ही चोरी है। गीता के अनुसार किसी के हिस्से को उसे न देकर स्वयं उपभोग करना चोरी है। किसी वस्तु को चुरा लेना ही चोरी नहीं अपितु दूसरे के अधिकार का उपभोग करना, अपहरण करना या अधिकार के अपहरण की चाह रखना भी चोरी है। हम अपने नित्य जीवन में बड़ी बातें चुराते रहते हैं। जो लोग जंगलों में बैठे रहते हैं, उनके यहाँ भी चोरी चलती रहती है इसलिए साधक को चाहिए कि वह अस्तेय व्रत का अपने जीवन में पालन करे।

ब्रह्मचर्य–अहिंसा का मूल आधार सत्य व सत्य की प्रतिष्ठा अस्तेय में तथा अस्तेय ब्रह्मचर्य में निहित है। ब्रह्मचारी माने जो सतत ब्रह्मभाव में विचरण करता है। जहाँ आपकी दृष्टि जाये वहीं आप

ब्रह्मभाव की कल्पना करें। जैसे आपने सुना होंगा कि सन्त रविदास जूता गाँठते थे तो यह सोचते थे कि ये मेरे प्रभु पहनेंगे। रामायण में तुलसीदास जी ने लिखा है–

स्वर्ग नरक अपबरग समाना । जहँ तहँ देख धरे धनुबाना ।।

अर्थात् जहाँ दृष्टि जाती है वहीं प्रभु दिखाई देते हैं। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यही ब्रह्मभाव में विचरण है। ब्रह्मचारी का दूसरा अर्थ होता है ज्ञान में विचरण करने वाला। ब्रह्म शब्द का अर्थ है ज्ञान इसलिए साधक का जीवन ज्ञानमय होना चाहिए। तीसरा–केवल इन्द्रियों को रोक लेने मात्र से कोई ब्रह्मचारी नहीं बन जाता बल्कि किंचित मात्र भोग भावना भी मन में न लाना ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह–पाँचवाँ साधक को अपरिग्रही होना चाहिए अन्यथा चित्त में स्थिरता नहीं आ सकती। अपरिग्रह माने केवल बाहर से धन, वस्त्र या अन्य वस्तुओं का त्याग नहीं अपितु अपरिग्रह तो अन्तर से होता है। केवल धन ही नहीं अन्य कई चीजें हैं जिन्हें हम अपने दिमाग में इकट्ठा किये रखते हैं इसलिए अन्दर के परिग्रह से अपने को अलग करें, यही अपरिग्रह है।

शौच–इन पाँचों के अतिरिक्त पाँच बातें और हैं जो साधक के व्यक्तिगत जीवन में होनी चाहिए। उनमें सर्वप्रथम है शौच। साधक को खान–पान की पवित्रता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। खाने की चीज़ को बनाने वाला, देखने वाला, स्पर्श करने वाला, देने वाले का संस्कार आप पर पड़ता है। जिस प्रकार के व्यक्ति द्वारा आपको खाने के लिए समान मिल रहा है, उसका संस्कार भोजन के साथ आपके अन्दर जा रहा है। इसलिए आहार–विहार में लापरवाही नहीं करनी चाहिए। अगर करते हैं तो आप साधक नहीं। एक बड़ा अपवित्र व्यक्ति यदि आपको खाने के लिए मज़बूर कर रहा है और आप सोचते हैं कि यदि इसे इन्कार करेंगे तो यह नाराज़ हो जाएगा और उसकी नाराज़गी के कारण आप अपने अन्दर का पतन कर

लें, यह उचित नहीं। आप उसे यह कह सकते हैं कि मेरा बार–बार खाने का नियम नहीं वा कह दो कि आज मेरा व्रत है। इतनी–सी तो बात कहनी है, इसमें जाता ही क्या है। लोग यही कहेंगे न कि आप बड़े भक्त हो, साधक हो। ठगत तो नहीं कहा, पापी तो नहीं कहा इसलिए शौच अर्थात् अन्दर–बाहर की पवित्रता साधक की साधना का प्रथम चरण है।

2 **सन्तोष**–द्वितीय साधक को सन्तोषी होना चाहिए अर्थात् मेहनत करने के बाद जो कुछ प्राप्त होता है उसी में सन्तोष करना। सन्तोष का अभिप्राय हाथ पर हाथ रखकर बैठना नहीं अपितु परिश्रम के परिणाम में प्राप्त होने वाली वस्तु में सन्तुष्ट रहना।

3 **तप**– इसकी वृह्द व्याख्या मैंने पूर्व में की है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन को शुद्ध करने वाली जितनी क्रियायें हैं, उनका नाम तप है।

4 **स्वाध्याय**–जीवन का अध्ययन, आत्मदर्शन, सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा गुरु द्वारा मिले हुए मन्त्र का सुमिरन ही स्वाध्याय कहा जाता है। /

5 **ईश्वर प्रणिधान**–आखिर में ये सब साधनाएँ करते हुए भी अपने आपको ईश्वर में समर्पित रखें। यही समझें कि करे कराये आपे आप। नहीं तो इन सारी साधनाओं से अहं जागृत हो जाएगा। यह बात याद रखें कि यह अहं बड़ा खतरनाक है। ये साधनाएँ बहुत बड़ा अहं पैदा करती हैं। मैंने देखा है कि त्याग के राग का त्याग करना बहुत कठिन है। मैं सही बता रहा हूँ कि पदार्थ का त्याग बहुत सरल है, दुनिया के वैभव का त्याग भी बहुत सरल है परन्तु उस त्यागवृत्ति के साथ जो राग पैदा हुआ है, उसका त्याग करना बहुत कठिन है। इसके लिए तो दोनों हाथ उठाकर उसी प्रभु को पुकारो कि यह मेरे बस का नहीं। शेष सारे त्याग तो मेरे बस के थे परन्तु यह मेरे बस का नहीं है। त्याग का राग बहुत महान् बाधक तत्त्व

है इसलिए इससे बचो। जैसे मैने बताया कि त्याग का राग होता है वैसे ही ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, सत्य, अहिंसा, शौच, सन्तोष, तप और स्वाध्याय, ये नौ साधन बड़ा राग पैदा करते हैं। यह राग होता सात्त्विक है लेकिन होता बड़ा खतरनाक है। मेरी अपनी निज की अनुभूति है, मैं आपको चिल्ला–चिल्ला कर बता रहा हूँ। स्वाध्याय का राग तो इतना बढ़ जाता है कि छूटता ही नहीं। बाकी के राग तो खत्म हो जाते हैं परन्तु यह नहीं छूटता। इसको कहते हैं शास्त्र ईषणा। मैं बहुत बड़ा विद्वान् हूँ, मैं बहुत समझता हूँ, मैंने बहुत अनुसन्धान किए हैं, यह कोई कम राग है! इसके साथ यदि धन का भी त्याग है फिर तो पूछना ही क्या? मैं किसी से कुछ नहीं माँगता, मैं बहुत बड़ा विद्वान् होकर दुनिया को ज्ञान दे रहा हूँ, कितना बड़ा राग है! मैं बहुत पवित्र रहता हूँ, मेरे जीवन में तो कभी कोई अपवित्रता नहीं आई, मैं तो एक पाँव से खड़ा रहता हूँ, ये सारे नखरे हैं राग के। तो राग के इन सारे नखरों से बचने के लिए आखिरी साधन है ईश्वर प्रणिधान। उसकी शरण में अपने आपको समर्पित कर देने से ये सारे साधन सफल हो जाते हैं, साधन साधन हो जाते हैं। तुलसीदास जी ने लिखा है–

जोग कुजोग ग्यान अग्यानु । जहँ नहीं राम प्रेम परधानु ।।

अर्थात् जहाँ प्रेम की प्रधानता नहीं, ईश्वर समर्पण का भाव नहीं, वहाँ ज्ञान अज्ञान तथा योग कुयोग हो जायेगा। सारे साधन असाधन हो जायेंगे, सारे शुभकर्म अपकर्म हो जायेंगे इसलिए यहाँ बहुत सँभलने की बात है। इसीलिए आखिरी ईश्वर प्रणिधान है कि 'करे करावे आपे आप, तेरी महिमा तू ही जान'। ऐसी दृढ़ भावना के साथ प्रणव की उपासना जो मैंने बताई है और उसके साथ मन्त्र जाप आप करें क्योंकि प्रणव उपासना तो चौबीस घण्टे आप कर नहीं सकते इसलिए मन्त्र का जाप, जो मन्त्र गुरु ने आपको दिया है, उसको चलते–फिरते, उठते–बैठते करते रहें और ध्यान के समय जो क्रिया मैंने बताई है,

वह करते रहें। ये सारी बातें साधन से सम्बन्धित हैं।

क्रियायोग आपके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित साधना है। इसको अपना कर जब आप आगे बढ़ेंगे तो सिद्धि की प्राप्ति होगी, इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं। केवल हठयोग तथा अन्य प्रकार की प्रक्रियाओं से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती अपितु अपनी प्रत्येक क्रिया को ईश्वर के नाते करने से सहज समाधि का लाभ प्राप्त हो जाता है।

हरि ॐ तत्सत्

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ।।
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



T

हमारे प्रकाशन

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय १ एवं २)
श्री चण्डिकाशतक • श्री श्यामशतक
मानस में धर्मरथ • रामो विग्रहवान् धर्मः
मानस महाकाव्य में नारी • गीता तत्त्व बोध
मानस के मोती • जीवन विज्ञान • भारत की आत्मा
सहज समाधि भली • योग पथ
नारी! तुलसी की दृष्टि में
क्या वर्ण–व्यवस्था अभिशाप है ?
ब्रह्मविद्या विज्ञान–प्रथम
ब्रह्मविद्या विज्ञान–द्वितीय
तत्त्व चिन्तन • सन्त सन्देश
हिन्दू धर्म सूत्र • गीतोक्त बुद्धियोग
काव्य सुधा • श्री शिव शतक
Yoga for life.The Hindu & its way of Life
How to be a Yogi • Towards Divinity
Essence of the Gita • Basic Principles of Yoga
श्री हनुमत् विनय पच्चीसी
गीता ज्ञान विज्ञान योग
आपकी अपनी बात
योगांकुर • साधना सूत्र • गीता कर्म विज्ञान • समाधान
विश्व को हिन्दुओं का योगदान • मानस में वैदिक सिद्धान्त
सन्त लक्ष्ण • श्री हनुमत् हृदय
Science of the Absolute Knowledge(Commentary on Ishopanishad)

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सदविचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

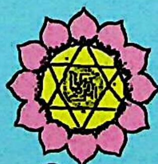
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

"किसी क्रिया को इसलिए मत करो कि उसको करना चाहिए, इसलिए करो कि आपके लिए उसकी उपयोगिता है। किसी क्रिया को रूटीन मत बनाओ। जो बात रूटीन में आ जाती है, वह फिर साधन नहीं रहती। साधन तो वह तत्व है जो तुम्हारी प्रसुप्त शक्ति को जागृत कर दे और रूटीन वह तत्व है जिससे होकर तुम चले जाते हो, तुम्हें पता ही नही चलता।"

उद्धरण—सहज समाधि भली से ही



दिव्यालोक प्रकाशन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri